विषय—सूची

विषय **पृष्ठ**

गद्य

ठहरो और देखो
धर्म को देखो
ज्ञान में अज्ञान को देखो
स्वयं ही अपने शत्रु और मित्र
अहंकृति के पीछे ईश्वर
कृति को देखो
श्रद्धा को देखो
दया और कृपा को देखो
दर्शनीय कौन
पूर्ण तीर्थ आत्मा ही है

पद्य

जीवनेश प्रभु जीवन के
प्रभु जानते हो सब कुछ
प्रभु अपने शरणागत को
मंगलमय घड़ी आई
न भूलो परमेश्वर का ध्यान
हे समर्थ प्रभु दया तुम्हारी
परमेश आनन्द धाम हो
मानव की सफलता है प्रभु
परमात्मन सुखधाम मेरे
अब और कहां जायें प्रभु
वे धन्य हैं श्रीमान् जी
भगवान हमारे जीवन का
सबके परमाधार यहीं हो
सकल भुवन के गान तुम्ही
हे दुखहारी शरण तुम्हारी
अधम उद्धारन दीन दुख
चित्त में यदि चाहन रह
उलझ मत दिल बहारों में
प्रभु मेरा मोह मिटाओ
सभी कुछ प्रभु देते जाते
प्रभु भूले को राह
हे करुणामय भगवान बसो

सन्त—वचन

समय ही जीवन है, समय खोना जीवन को व्यर्थ खो देना है। वही मूढ़ है जो संसार में सब कुछ तथा सुख पाने के भ्रम में आयु खोता रहता है परन्तु अन्त में देखता है कि मिला कुछ भी नहीं। देखो! इस हाड़मांस के शरीर में वह क्या है जो जड़ देह नहीं है? जिस शक्ति से 'अन्य' को 'पर' को जानते हो उसी शक्ति से, उसी ज्ञान से, स्वयं को जान सकते हो।

ठहरो और देखो

लेखक
साधु वेष में पथिक

प्रकाशक

सम्वत् 2033 मूल्य रुपया

जीवनेश प्रभु जीवन के दिन यूं ही बीते जाते हैं।।
हम तुममें तुम हममें ही हो फिर भी देख न पाते हैं।।

शान्ति सुलभ पर त्याग नहीं है शक्ति सुलभ पर तप से हीन।
कैसे सद्गति प्राप्त करें हम सभी भांति से दुर्बल दीन।
तृष्णा तल पर भटक रहा मन होकर चंचल महा मलीन।
मेरा उठना तो अब केवल एक तुम्हारे ही आधीन।
कृपादृष्टि से वंचित रहने तक ही पाप सताते हैं।।

चढ़ा हुआ है जब तक उर में राग द्वेष का कलुषित रंग।
जब तक दुर्गुण दोषों से यह शुद्ध न होते दूषित अंग।
तब तक तुमको पा न सकेंगे कितनी ही हो प्रबल उमंग
अब कुछ ऐसी शक्ति हमें दो जिसके बल हो सके असंग।
वही देखते जाते हम जो कुछ भी आप दिखाते हैं।।

जो चाहा वह मिला अभी तक, केवल शेष यही अभिलाष।
सब कुछ तजकर भजूं तुम्हीं को कर दो यह भी पूरी आश।
मिट जायें सब दुःख हमारे कट जायें सारे भव पाश।
हर लो मेरी दुर्गति सारी कर दो पावन ज्ञान–प्रकाश।
यही प्रतीक्षा है अब कब तक मेरा मोह मिटाते हैं।।

यह हो चुका अभी तक अगणित पतितों का उद्धार।
मिल न सकेगा ऐसा कोई जिस पर हो न तुम्हारा प्यार।
सर्व समर्थ परम संरक्षक प्राणिमात्र के परमाधार।
हम भी एक पतित प्राणी हैं अब हमको भी कर दो पार।
भूले भटके हुए पथिक हम शरण तुम्हारी आते हैं।।

———

श्री परमात्मने नमः

ठहरो और देखो!

हमें सम्बोधित करते हुए समझाया गया है–

पूर्णता के अभिलाषी पथिक नाम रूप में प्रिय आत्मन् !

तुम भले ही इस सत्य पर विश्वास न करो लेकिन ध्यान से देखने वाले गुरुजनों का यह सन्देश है कि तुम अगणित जन्मों से दुख रहित सुख के लिये, अशान्ति रहित शाश्वत शान्ति के लिये तथा मृत्यु रहित नित्य रहने वाले जीवन के लिये एवं परापेक्षा रहित अखण्ड आनन्द के लिये अनेकों पथों के पथिक बन चुके हो।

इस जन्म में भी बाल्यकाल से जो कुछ भी चाहा है वह अपूर्ण नहीं चाहा। पूर्णता की चाह के कारण ही अपूर्णता की वेदना अशान्ति बनाती आ रही है।

लाखों मनुष्य ध्यान से न देखने के कारण अज्ञान में विनाशी वस्तुओं एवं सम्बन्धित जनों से अथवा भूमि भवन धन ऐश्वर्य आदि से पूर्ण आनन्द प्राप्त होने की आशा से दौड़ते रहते हैं, कभी न कभी सब ओर से निराश होकर थक कर बार बार संसार की ओर ही भागते रहते हैं।

जो ठहर कर देखते हैं उनका ही यह निर्णय है कि जगत में सभी मनुष्य कभी इच्छित वस्तुओं के लिये कभी प्रिय संयोग के लिये अथवा धन भूमि भवन के लिये अथवा पद सम्मान के लिये सारी आयु दौड़ते हुए बिता

देते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि चलने लायक नहीं रह जाते परन्तु अन्त में पाते कुछ नहीं।

कोई चलते चलते चिल्ला उठते हैं कि यह मिल गया, अभी और मिलने वाला है, इसी आशा से भागते ही जाते हैं कि आगे अभी और मिल जाये, जो किसी के पास है वह मेरा हो जाये। जो लोग पाने के हर्ष में वाह वाह कहते थे वही अचानक खोते हुए हाय हाय करते दीखते हैं।

ठहर के देखने वालों का सन्देश है कि यह सारी दौड़ भाग अहंकार की है। यह अहंकार सदा दरिद्र ही बना रहता है और मिले हुए को खो खोकर पुनः पाने के लालचवश दौड़ता रहता है।

यह अहंकार कभी ज्ञानी विरागी त्यागी बनकर धन भूमि आदि वस्तुओं एवं सम्बन्धित व्यक्तियों को छोड़कर सन्यासी होकर भगवान की भक्ति अथवा मुक्ति एवं शान्ति के लिये भागने की दिशा बदल देता है परन्तु ठहर नहीं पाता है।

कदाचित तुमने पूर्णता प्राप्ति के लिये संसार की दिशा में भागना बन्द कर दिया है और एक परम सत्य अविनाशी परमात्मा में ही पूर्णता प्राप्ति की आशा लेकर परमार्थ पथ के पथिक बन रहे हो तब इस गुरु सन्देश के अनुसार ठहरो और देखो।

केवल आँख से देखने को देखना न समझ लेना, और शरीर के रुकने को ठहरा हुआ न मान लेना। क्योंकि ध्यान से देखने पर यह ज्ञान होगा कि शरीर के रुकने पर भी शरीर में जो कुछ क्षण क्षण हो रहा है वह नहीं रुका है।

पैरों को पृथ्वी में रुके हुए देखकर अथवा शरीर को भूमि में बैठे देखकर स्वयं ठहरे हुए न समझ लेना। क्योंकि तुम शरीर नहीं हो।

ध्यान से ही तुम देख सकोगे कि जिस शरीर को, इन्द्रियों को, मन को तथा बुद्धि के विचारों को देख रहे हो वह तुम कदापि नहीं हो सकते। दृष्टा से दृश्य भिन्न होता है। तुम ध्यान से नेत्रों द्वारा, मन द्वारा बुद्धि विद्या द्वारा, ठहरी हुई प्रज्ञा द्वारा स्वयं ठहर कर स्वयं को ही देखो।

तुम भगवान के चित्त अथवा मूर्ति को रखकर ध्यान करते हो अथवा माला से नाम जप मन्त्र करते हो, अथवा कीर्तन पाठ पूजा के अभ्यासी हो, साधना के रूप में जो कुछ भी करते हो उसके साथ ध्यान से देखो कि जो कुछ कर रहे हो वह क्या तुम्हारे द्वारा हो रहा है? यद्यपि अहंकार कुछ क्रियाओं का कर्ता अपने को ही मानता है परन्तु ध्यान से देखे बिना अहंकार का भी ज्ञान नहीं होता।

बल्ब में प्रकाश होता है परन्तु विद्युत के बिना नहीं हो सकता। विद्युत शक्ति से प्रकाश होता है किन्तु यह भी बल्ब के बिना नहीं टिक सकता। बल्ब और विद्युत शक्ति के संयोग से प्रकाश होता है लेकिन कोई बटन न दबाये तो नहीं हो सकता। कोई बटन भी दबाता रहे परन्तु बल्ब या विद्युत का संयोग न हो तब भी प्रकाश नहीं हो सकता तीनों का संयोग होने पर यदि विद्युत शक्ति तथा तार और बटन दबाने का ज्ञान न हो अथवा इन सबको प्रगट करने वाला न हो तब भी कुछ नहीं हो सकता।

ध्यान से देखने पर जो कुछ हो रहा हे प्रकृति पुरुष पुरुषोत्तम के संयोग से हो रहा है। अज्ञान से अहंकार कर्ता बन रहा है ज्ञान में सब कुछ होता हुआ दीखता है, यह ज्ञान रूपी आलोक, ध्यान से देखने पर मिलता है।

जहाँ तक यात्रा है वहां तक अहंकार की ही सीमा है। इस अहंकार को ध्यान से देखने पर इसकी सीमा का ज्ञान होता है। ज्ञान में देखते ही अहंकार से मुक्ति मिलती है।

जगत के ऊपरी तल पर अहंकार की क्रीड़ा है। प्रकृति के अन्तरतल पर प्रभु की लीला दीखती है। प्रकृति के पार परमात्मा है। ठहरो और देखो!

संसार के सभी प्राणी अपनी अपनी कमी पूर्ति के लिये चलते ही जा रहे हैं प्रायः लाखों बुद्धिमान विद्यान मनुष्य दौड़ते हुए भी अपने को ठहरा हुआ मानते हैं और बैठे हुए भी अपने को चलता हुआ देखते हैं।

कोई घोड़े पर बैठा है, कोई साइकिल पर बैठा है। कोई कार पर बैठा है, कोई हवाई जहाज पर बैठा है लेकिन यही कहता है कि मैं यात्रा कर रहा हूँ।

साइकिल घोड़ा मोटर हवाई जहाज की गति को अपनी गति मानते हैं। यह शरीर, पैरों के द्वारा चलता है परन्तु देहाभिमानी कहता है मैं चल के आया हूँ।

श्रद्धालु साधकों को अथवा पूर्णता के प्यासे पथिकों को गुरुजन सावधान करते हैं——ठहरो और देखो!

इन्द्रियों के साथ ध्यान योग होने पर रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द इन विषयों को ग्रहण होता है।

मन के पीछे जब ध्यान योग होता है तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–इन विषयों का भोग होता है।

बुद्धि के साथ जब ध्यान योग होता है तब भोग के परिणाम का ज्ञान होता है और वस्तु के तत्व का यथार्थ ज्ञान होता है।

स्वयं के पीछे जब ध्यान योग होता है तब सत्य आत्मा का बोध होता है।

ध्यान में जब भूतकाल के दृश्य भर जाते हैं तब उन्हीं का मनन चलता रहता है और भविष्यकाल से ध्यान सम्बन्धित होने पर चिन्तन चलता है।

वर्तमान को ध्यान से देखने पर ज्ञान का द्वार खुलता है। वर्तमान में निरन्तर रहने वाला जो परम सत्य है उसे कोई उत्पन्न तथा विनष्ट होने वाली वस्तु नहीं कह सकते। वर्तमान में जो प्रत्यक्ष है वह क्षण ही है और क्षण–क्षण को ध्यान से देखने पर क्षण का जो परमाश्रय है वही शाश्वत परमात्मा सत्य है। ध्यान द्वारा इसी परमाश्रय का दर्शन होना ही ध्यान की पूर्णता है।

प्रायः हम लोग सुने हुए अथवा माने हुए सत्य की कल्पना को, प्रत्यक्ष देखने की जो विधि है, पद्धति है उसे ही ध्यान मानते हैं परन्तु कल्पना को ध्यान में भर कर, उसे देखना, नित्य निरन्तर विद्यमान सत्य का साक्षात नहीं है, वह तो कल्पना को साकार कर लेना है।

मन में भावना कल्पना की महान शक्ति है। भावना कल्पना के रूप में प्रेम स्वरूप परमात्मा ही प्रत्यक्ष होता है। कोई महान पुरुष ही भाव में भगवान को देख पाते हैं।

ध्यान से आत्म ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञान योगी आत्मस्थ रहने के कारण उसका चित्त समुद्रवत ऐसा गम्भीर अचल होता है कि नाना प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के अवसरों पर भी वह चलायमान नहीं होता तभी उसे शान्ति प्राप्त होती है। ध्यान योग द्वारा तुम भी प्राप्त कर सकते हो।

ध्यान में तत्पर कर्मयोगी भी सब कामनाओं को त्याग कर इच्छा ममता और अहंकार से रहित होकर स्वस्थ विचरने लगता है, तब वह शान्ति को पा लेता है।

कामनाओं की पूर्ति चाहने वाले भले ही ज्ञान हो अपना कर्मयोगी हो परन्तु उन्हें अशान्त होना पड़ता है। हम साधकों के लिये यह गुरु निर्देश है कि जब तक सात्विक श्रद्धा नहीं है, जब तक साधना में अथवा गुरु आज्ञा पालन में तत्परता नहीं है, और जब तक इन्द्रियों को वश में नहीं किया है अर्थात् जितेन्द्रिय नहीं है तब तक ज्ञान लाभ नहीं होता।

लोभी धन पाने की शर्तें पूरी करता है, अभिमानी पदाधिकार पाने के लिये, तथा कामी सुखोपभोग के लिये सभी शर्तें पूरी करता है लेकिन ज्ञान चाहने वाले साधक हम लोग श्रद्धा को तथा तत्परता को एवं जितेन्द्रियता को पूर्ण करने की चिन्ता प्रायः नहीं करते क्योंकि ज्ञान की अभिलाषा बहुत धुंधली है।

हमें समझाया गया है कि विषयासक्त अहंकारी मनुष्य प्राप्त में संतोष न करके जो कुछ दूसरों के पास देखता है उसी को पाने के लिये कामना करता है। देवी देवताओं से वही मांगता है और माने हुए सुखद पदार्थों का मनन चिन्तन ध्यान करता है, उसी प्रकार तुम क्षणिक सुखों के विपरीत यदि शाश्वत शान्ति चाहते हो अथवा भोग के विपरीत योग चाहते हो अथवा ज्ञान विज्ञान से तृप्त होना चाहते हो तब ध्यान योगी पूर्णता के लिये अन्तरस्थ परमात्मा से प्रार्थना करो बार बार उसी अवस्था का मनन चिन्तन करो। भोग के लिये तदानुसार मनन चिन्तन ध्यान अनायास चलता ही रहता है, अब योग के लिये निरन्तर प्रयास अथवा अभ्यास करना ही होगा। बार बार चिन्तन ध्यान के अभ्यास से जो अभी कठिन प्रतीत होता है वह सरल व सहज हो जायेगा।

हमारे लिये यही गुरु आदेश है कि आलस्य प्रमाद को महा अनर्थकारी समझ कर तुम साधना में तत्पर रहने के लिये दोषों का त्याग करो।

मन की चंचलता को देखते हुए अपने को साक्षी पद में स्थित करो। मन की एकाग्रता, बुद्धि की स्थिरता को भविष्य के लिये न टालो क्षण क्षण अभ्यास में तत्पर रहो।

चित्त को शान्त करो! सर्दी गर्मी सुख दुख में मान अपमान के अवसरों में हर्षित शोकित न होकर समस्थित रहो। तुम ज्ञान में सब कष्ट होते हुए देखकर तथा विज्ञान में शक्ति समय का सदुपयोग प्रयोग करते हुए वर्तमान में ही सन्तुष्ट रहो।

तुम लोहार की निहाई की भांति, जिसमें अनेकों पात्र बनाये जाते हैं, पात्र बनाते हुए लोहे के हथौड़े टूट जाते हैं परन्तु वह निहाई ज्यों की त्यों बनी रहती है उस कटस्थ की भांति विषयों के समीप होने पर भी निर्विकार अचल रहने के लिये सावधान रहो।

तुम तत्व को जानकर मिट्टी पत्थर स्वर्ण को एक समान समझो और समस्थित रहो।

तुम आत्म तत्व में बुद्धि को स्थिर रखते हुये मित्र शत्रु उदासीन मध्यस्थ द्वेषी या बन्धु पापी या पुण्यवान में एक ही आत्मा का स्मरण रखते हुए समता में शान्त रहो।

यह भी गुरु निर्णय है कि निरन्तर जो कुछ भी देखो उस नाम रूप के पीछे प्रथम आत्मा को देखो, सबमें परमात्मा को नमन् करो तत्पश्चात् नाम रूप के अनुसार वस्तु व्यक्ति का निर्णय करो। तुम कहीं अशान्त न होकर आत्मा में ही ध्यान रखकर परम शान्ति का अनुभव अपने आप में ही कर सकते हो।

तुम आहार विहार का विवेकपूर्वक पक्ष लो। कभी भी अति भोजन न करो न अति भूखे रहने का पक्ष लो। देह की शुद्धि के लिये निराहार व्रत कर लो। अति निद्रा या अति जागरण से भी बचते रहो।

योग युक्त रहने के लिये चित्त को आत्मा में स्थिर रखने के अभ्यासी बनो। इच्छाओं कामनाओं को कदापि न बढ़ने दो। आवश्यकता की पूर्ति करो इच्छा की पूर्ति का पक्ष छोड़ते रहो।

वायु रहित स्थान में जिस प्रकार दीपक की लौ स्थिर रहती है उसी प्रकार चित्त को शान्त रखने का अभ्यास दृढ़ करो।

चित्त के शान्त होने पर आत्मा में ही प्रीति दृढ़ होने दो, आत्मा में ही सन्तुष्ट रहो, आत्मा में ही तृप्त रहो।

ठहरी हुई शुद्ध बुद्धि से तुम ध्यान द्वारा इन्द्रियों से परे उस आत्म सुख को प्राप्त करो जहां किसी वस्तु या व्यक्ति के संयोग की अपेक्षा नहीं रहती है।

तुम ऐसी आत्मा की अनुभूति प्राप्त करो जिसके द्वारा बड़े से बड़े दुखों के आने पर विचलित न हो सको। परमगुरु भगवान का निर्देश है कि तुम उस सर्वोत्तम सुख को प्राप्त करने के लिये रजोगुण को शान्त करते जाओ पापरहित होते जाओ।

तुम भोगाभ्यास के स्थान में ऐसा योगाभ्यास दृढ़ कर लो कि परमात्मा से दूरी मिट जाये। परमात्मा में ही सब कुछ प्रकाशित दीखने लगे। सभी प्राणियों में परमात्मा की आत्मा का अनुभव होता रहे। सभी प्राणी परमात्मा की चेतना से चालित दीखने लगे। सारी गतियां उसी से होती हुई और उसी में लीन होती दीखती रहें।

भगवान यह भी कहते हैं कि जिसका चित्त (अन्तःकरण) वश में नहीं है उसे योग–सिद्धि मिलना कठिन है। इसीलिये तुम्हीं को योग सिद्धि के लिये अन्तःकरण को शुद्ध करना है दूसरों की अपेक्षा नहीं करनी है प्रभु की कृपा नित्य सहायक है। ठहरो और देखो!

तुम किसी कलाकार के द्वारा बनाई गई पत्थर की अथवा धातु की मूर्ति को मनोयोग द्वारा ध्यान से देखते हो तब वह मूर्ति आपके मानस में भर जाती है पुनः आप भगवान होने की भावना उस मूर्ति में या चित्र में दुहराते रहते हो, परन्तु तुम्हारी प्रीति तो माता, पिता, पत्नी पति, पुत्र आदि में लगी है इसलिये प्रीति में सम्बन्धियों की आकृतियां भरी होती हैं। कारीगर की बनाई हुई मूर्ति या तस्वीर आंखों तक ही उतर पाती हैं, प्रीति में नहीं उतर पाती। तुम मूर्ति में या किसी चित्र में भगवान का ध्यान जमाते हो परन्तु जो जगत रूपी मूर्ति भगवान के प्राकृतिक नियम से मूर्तियां बनी हैं उन्हें ध्यान से नहीं देखते।

अब उन मूर्तियों को ध्यान से देखो साथ ही इस देह रूपी मूर्ति को भी ध्यान से देखो, जिससे तुम रहते हुए 'मै' मान रहे हो– 'मेरी' कहे जा रहे हो।

जितने ही गहरे ध्यान से देह रूपी मूर्ति को देखोगे उतना ही स्पष्ट आकृति के पीछे प्रकृति का ज्ञान होगा, एवं प्रकृति के पीछे अनन्त शाक्ति द्वारा अगणित गतियों का भान होगा और गतियों के पीछे नित्य निरन्तर विद्यमान अखण्ड अनन्त संत परमात्मा का अस्तित्व रूप में बोध होगा।

हम विनाशी या अविनाशी हैं, जड़ हैं या चेतन हैं, विकारी हैं या निर्विकारी हैं, परतन्त्र हैं या स्वतन्त्र हैं, बन्धन में हैं या मुक्त हैं–ध्यान द्वारा जैसे हैं वैसा ही देखते जाना–आत्मज्ञान की सीढ़ी है।

प्रायः हम अपने को मानते चले जाते हैं। ध्यान द्वारा जो कुछ भी हैं, हम जैसे भी हैं उसे देख सकते हैं। अस्तित्व ही अपना स्वरूप हैं।

यह गुरु निर्णय है कि किसी एकान्त स्थान में जाकर ध्यान लगाने की कोशिश मत करो क्योंकि शरीर का अकेला होना एकान्त नहीं है, प्रत्युत किसी व्यक्ति–वस्तु से सम्बन्ध न रहना एकान्त है। ध्यान में अस्तित्व का अनुभव करना ही एकान्त है। पहाड़ों की गुफा में उतरना किसी के लिये भी आसान है लेकिन ध्यान से हृदय रूपी गुफा में उतरना, किसी सम्बन्ध रहित, विचार रहित, विकार रहित, साधक के लिए ही आसान है।

अवश्य ही वह स्थान भी ध्यान–योग में सहायक होते हैं जहां कामी, क्रोधी, लोभी, मोही के विचार कम्पन नहीं भरे हैं। इसीलिए अनेकों लोग अपने घरों में एक ऐसा स्थान बनाते हैं जहां केवल ईश्वर चिन्तन भजन अध्ययन ही होता है। वह स्थान भी ध्यानयोग में सहायक होता है लेकिन ध्यान योगी की पूर्णता असंग होने पर ही सुलभ होती है। विषय स्पर्श जनित सुखास्वाद लेना भोग है। अनास्वाद अनासक्ति में योग है।

ध्यान द्वारा मन में जो भर जाता है उस संयोग का भोग होता है। ध्यान द्वारा बुद्धि से जिसे यथार्थ जान लिया जाता है उस ज्ञान का उपयोग सुदपयोग होता है। ध्यान द्वारा परमात्मा की अभिन्नता के बोध में योग होता है।

ध्यान देकर देखते देखते स्वयं में और सर्व में जब साधक को नित्य सत्य परमात्मा का बोध होता है उसे ही दर्शन कहते हैं। भिन्न वस्तु का ग्रहण और अभिन्न संत का दर्शन होता है।

इसीलिये सत्य दर्शन का द्वार एक मात्र ध्यान ही है। ध्यान में जब तक कुछ आता जाता है, तब तक जगत दृश्य से सम्बन्ध है और जब ध्यान में

कुछ नहीं रह जाता है तब जो है वही सत्य है, उसी को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा की अनुभूति ही ध्यान में दर्शन है।

मन के शान्त मौन होने पर और बुद्धि के स्थिर होने पर ही परमात्मा की अनुभूति का द्वार मिलता है। इसीलिये अनुभवी पुरुष को मन्दिर में दर्शन के लिये जाने की अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि वह ध्यान द्वारा स्वयं को देखते हुए स्वयं में ही दर्शन का द्वार पा जाता है।

तुम ध्यान के द्वारा प्रत्येक गति के मूल श्रोत को जानो अर्थात् शब्द स्पर्श गन्ध रसादि विषय प्रवाह में मन को न बहने दो प्रत्युत प्रत्येक प्रवाह का आरम्भ कहां से हो रहा है उसे जान लो यहां ध्यान यथार्थ ज्ञान का साधन होगां

जो कुछ अगोचर है उसे ध्यान से देखने के लिये कल्पना करनी होती है, अनुमान करना होता है। मन की महान शक्ति कल्पना को साकार बना लेती है, अनुमान की शक्ति सुदूर यात्रा में ले जाती है।, अद्‌भुत आविष्कार कर लेती है। मनोमय शरीर में विषय ग्रहण की अद्‌भुत शक्ति है। ग्रहण का भोग होता है उस भोग का दुष्परिणाम, कभी विज्ञानमय कोष में जाग्रति आती है।

मन को विषय पथ में भागते हुए जब तुम रोक सकोगे तभी विज्ञान मय कोष की ओर लौटना सम्भव होगा।

हमें यह भी बताया गया है कि ध्यान में ज्ञान योग की प्राप्ति तभी होगी जब बन्धनों से अर्थात् दुख देने वाले दोषों से छूटने की प्रबल अभिलाषा होगी। ध्यान में तभी स्थिरता होगी जब संसार से पूर्ण विरक्ति होगी।

यदि किसी भी प्रतिकूलता से मन में क्षोभ उत्पन्न हो गया तब ध्यान नहीं सधेगा। यदि मन की चंचलता चलती रही तब भी आंख बन्द कर लेने से ध्यान नहीं होगा। यदि ध्यान में देह स्थिर न रही तब भी ध्यान नहीं सधेगा। यदि शब्द में, स्पर्श में, स्वाद में, रूप में इन्द्रियां चंचल होती रहीं तब भी ध्यान की शक्ति नहीं बढ़ेगी। यदि संकल्प किये हुए व्रत में दृढ़ता नहीं है तब भी ध्यान पूर्ण नहीं होगा।

यदि धैर्य धारण करने की शक्ति नहीं है तब भी ध्यान में दुर्बलता बाधक होगी। जहां आलस्य प्रमाद को हटाने की शक्ति नहीं है वहां भी ध्यान अति कठिन प्रतीत होगा। गृह के कोलाहल में अशान्त वातावरण में भी ध्यान में बाधा पड़ती रहेगी।

यदि कोलाहल शून्य स्थान नहीं है तथा जिस स्थान में भय, चिन्ता, कष्टों की अधिकता है तब वहां भी ध्यान नहीं सधेगा।

जब तक किसी सम्बन्धित व्यक्ति में मोह है अथवा भूमि भवन धन में लोभ वश आसक्ति है, अथवा किसी प्रकार की श्रेष्ठता का अपने पदाधिकार का अभिमान है तब तक ध्यान में स्थिरता नहीं आ सकेगी। जब कभी किसी से भी ईर्ष्या द्वेष कलह क्रोध निन्दा घृणा आदि दुर्भाव मन में प्रकट होंगे तब ध्यान की शक्ति क्षीण हो जायगी।

जब तक संग्रहीत धन में, अथवा वस्तुओं में राग बना रहेगा अथवा कुछ भी अपना प्रतीत होगा तब तक ध्यान में बाधा आती रहेगी। स्त्रियों के संघर्ष से भी ध्यान में बाधा पड़ती ही रहेगी।

यदि मन की चंचलता की तथा बुद्धि के विचारों को देखते रहने के लिये अपने को स्थिर कर लेते हो तभी तुम शान्त रहकर ध्यान से वस्तु के तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। कीर्ति प्रतिष्ठा तथा धन भोग में अनासक्त रहकर ही तुम ध्यान से अन्तर यात्रा करते हुए आत्मालोक तक पहुंच सकते हो।

जिसे किसी के आने की प्रतीक्षा नहीं रहती, जिसे किसी की याद नहीं सताती, जिसके मन में कहीं जाने की उत्सुकता नहीं रहती, कुछ पाने की चाह नहीं रहती वही ध्यान में शान्त स्वस्थ रहता है।

जिनकी बुद्धि में, 'यही आत्मा है'—ऐसा दृढ़ निश्चय है, जिनकी बुद्धि में 'मैं देह नहीं हूं, यह कुछ भी मेरा नहीं है' ऐसी दृढ़ मति है वही ध्यान योग में तत्ववित हो पाते हैं।

जिन्हें संसार में कोई लाभ दीखता ही नहीं और किसी वस्तु व्यक्ति से सम्बन्ध टूटने पर अथवा किसी आकार के भवन के या किसी वस्तु के नष्ट होने पर हानि दीखती ही नहीं वही ध्यान योग में समता को प्राप्त होते हैं। जिन्होंने अपने साथ चलने वाली शक्ति को नष्ट करने वाली पशु वृत्ति को बांध लेने में सफलता प्राप्त कर ली है अर्थात जिन्होंने अपने भीतर पालतू पशु वृत्तियों को स्ववश कर लिया है वे ही ध्यान में ज्ञान को उपलब्ध कर लेने के अधिकारी हैं। जिन्होंने प्राप्त सम्पत्ति पर धन पर पक्ष का अधिकार न रहने देकर देवता को दान का अधिकार दे दिया है तथा किसी प्रकार के पद पर दानव को मान का भोगी न बनाकर विनम्रता देवी को बिठा दिया है वे ही ध्यान में प्रभु के प्रेम अवतरण का अनुभव कर पाते हैं।

जो नेत्रों को रूप के रसास्वाद से अथवा कर्ण कुहरों में सुनाई देने वाले शब्द स्वर के रसास्वाद से मन को नहीं रोक पाते वह ध्यान योग के अधिकारी नहीं हो पाते।

जो विषय सेवन के त्याग का संकल्प करने पर उस विषय रस के सामने आते ही विचलित हो जाते हैं वह भी ध्यान योग के अधिकारी नहीं होते।

जो बार बार संयम को तथा व्रत को भंग देखकर बार बार पश्चाताप करते हैं परन्तु अभ्यास को प्रतिकूल अभ्यास से नहीं जीत पाते अर्थात् क्रोध के संयम क्षमा को भूल जाते हैं, अभिमान के आवेग में विनम्रता को भूल जाते हैं, देह को देखते हुए आत्मा को भूल जाते हैं, सुखोपभोग के अवसर सुलभ होते ही परिणाम में आने वाले दुख को भूल जाते हैं, जो संयोग होते ही आगे होने वाले वियोग का स्मरण नहीं करते, जो लाभ होते ही हानि को निश्चित नहीं देखते, जो शरीर के साथ चलने वाली मृत्यु को भूले रहते हैं वे भी ध्यान योग के अधिकारी नहीं हो पाते।

जो किसी प्रकार के त्याग के तथा तपस्या के अथवा दान के अथवा कथा प्रवचन ज्ञान विज्ञान एवं ध्यान आदि साधना के बदले में धन चाहते हैं, मान चाहते हैं, नाम चाहते हैं वे भी ध्यान योगी नहीं हो पाते।

वह ध्यान योगी महापुरुष का हम साधकों को सन्देश है––ध्यान से देखो यह शरीर किस प्रकार उठ रहा है। ध्यान से देखो––पैर किस क्रम से चलते जा रहे हैं। ध्यान से देखो––कानों द्वारा शब्द सुना जा रहा है, आंखों द्वारा देखा जा रहा है, अवसर पर वाणी द्वारा वाक्य निकलते आ रहे हैं।

ध्यान से देखो! त्वचा द्वारा शीत ऊष्ण का स्पर्श हो रहा है, खुजली लगते ही हाथ उस स्थान पर स्वतः ही पहुंच जाता है, किसी प्रतिकूल अप्रिय स्पर्श से शरीर स्वतः चींख पड़ता है, उछल पड़ता है, अप्रिय स्पर्श को तत्काल हटा देता है या शरीर स्वतः हट जाता है।

ध्यान से देखो! जो कुछ भी भीतर है, वह बाहरी संग के प्रभाव से स्वतः ही प्रगट हो जाता है।

ध्यान से देखो! कभी क्रोध आ जाता है, किसी के संग से कामना प्रबल हो जाती है, किसी के संग से लोभ जाग्रत हो जाता है, किसी को देखकर उदारता नम्रता प्रीति सेवा भावना प्रबल होती है, किसी के समक्ष होते ही श्रद्धा सहित पूज्य भाव जाग्रत होता है। जो कुछ भीतर गुण या दोषों की सुगन्ध दुर्गन्ध है वह संग से प्रगट हो जाती है।

जिन्होंने अपनी अप्रौढ़ बुद्धि के कारण सुनकर के ही स्वधर्म को, परमेश्वर को, लाभ को, हानि को, स्वयं को, अथवा पर को, भजन को, अथवा भक्ति मुक्ति को, पाप को पुण्य को, इसी प्रकार जीवन को अथवा मृत्यु को, गुरु को या शिष्य को, सुख को या दुख को मान लिया है परन्तु विवेकपूर्वक जाना नहीं वह भी ध्यान की बाधाओं को दूर नहीं कर पाते।

जिन्होंने अज्ञान में त्याग को वैराग्य को, सन्यास को अथवा ग्रहस्थ जीवन को, अथवा ध्यान को ज्ञान को एवं शान्ति और समाधि को भी मानकर ही सन्तोष धारण कर लिया है किन्तु ध्यान ज्ञान से युक्त महात्मा की संगति में यथार्थ जाना नहीं है, वे भी ध्यानी एवं ज्ञानी होने के अभिमानी बनते रहते हैं किन्तु ध्यान ज्ञान से युक्त नहीं हो पाते।

जो साधक साधना के द्वारा किसी प्रकार की सिद्धि चाहते हैं या जनता को आकर्षित करने के लिये झूठा चमत्कार दिखाने का कौशल करते हैं जिन्हें मान प्रतिष्ठा प्रिय है, शिष्य समुदाय जिनका सुखद क्षेत्र है, जिनकी प्रीति की परिधि बन रही है वे भी ध्यान में शान्त स्वस्थ आत्मस्थ नहीं हो पाते।

ज्ञान विज्ञान से तृप्त महापुरुषों ने सावधान किया है कि यदि तुमने अपने को पराधीनता से मुक्त नहीं कर लिया है, अर्थात लोभवश धन के पीछे भाग रहे हो, मोहवश सम्बन्धियों में प्रीति फंसा बैठे हो, मान प्रतिष्ठा के लिये पदाधिकार में आसक्त हो चुके हो, तब तुम स्वतन्त्र नहीं हो, स्वाधीन नहीं हो, तब तुम ध्याननिष्ठ नहीं हो सकोगे। इसीलिये ध्यान देकर दोषों को देखो।

यदि तुमने नेत्र, रसना आदि विषयी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया है तब यह विषयासक्ति तुम्हारे ध्यानाभ्यास में बाधा डालती रहेगी। अतः ठहरो और इसे देखो!

यदि तुम निरन्तर तत्व चिन्तन आत्मा का चिन्तन भूलकर वस्तु के नाम रूप का चिन्तन करते रहते हो तब भी तुम्हें ध्यान में स्थिरता नहीं प्राप्त होगी। परमार्थ की चर्चा करते हुए यदि सांसारिक व्यापार में ही तुम्हारी बुद्धि व्यस्त रहती है, सुखोपभोग में आसक्ति बढ़ी हुई है, अपने हित का ज्ञान ही है, तब भी तुम ध्यानाभ्यास में बार बार निराश होते रहोगे। यदि तुम प्रतिकूल परिस्थिति में क्षुभित होते रहते हो, मनःस्थिति को साधना के अनुकूल नहीं बना पाते हो, यदि तुम परमात्मा के आश्रय में निर्भर प्रसन्न नहीं हो पाते हो, सदा शान्त न रहकर अशान्त हो जाते हो तब तुम ध्यान योग के अधिकारी नहीं हो अतः ठहरो और देखो!

ध्यानाभ्यास के समय यदि किसी प्रकार के शब्दों की ध्वनि नहीं सुनना है तब तुम स्वयं ध्वनि करने लगो नाम कीर्तन करने लगों। यदि तुम्हें अन्तर की ध्वनि अथवा नादानुसन्धान द्वारा अन्तर यात्रा करनी है तब शान्त हो जाओ जितनी शान्ति होती है उतनी सरलता से सूक्ष्म तरंगें पकड़ी जा सकती हैं।

ध्यान योग की सिद्धि के लिये फैली हुई चेतना को समेट लो, मित्र की शत्रु की आगे पीछे की कोई स्मृति या चिन्ता को न आने दो।

नाभि में स्वास आ रही है पुनः बाहर जा रही है इसी स्पन्दन को ध्यान से देखो, मूल श्रोत की खोज करो।

स्वास के सहारे नाम स्मरण का अभ्यास भी शान्ति की भूमिका में ठहरने की साधना है, उस नाम स्मरण के होने को भी देखो किन्तु कर्ता न बनो।

नाम स्मरण के पहले और नाम के अन्त में पुनः नाम आरम्भ के बीच में जो शान्त चेतना की अनुभूति है उसमें विश्राम का अनुभव करो।

चेतन आत्मा नित्य विद्यमान है, ऐसा कोई क्षण नहीं जब आत्मा न हो। अन्य की स्मृति से उसकी विस्मृति हो जाती है, इसे भी ठहरो और देखो!

किसी भी शिशु की भांति ही हम साधकों को ध्यान से देखते रहने के लिये वर्तमान में तत्पर रहना आवश्यक है।

वर्तमान में ध्यान से देखने के लिये एक तो वह दृश्य है जो क्षण क्षण परिवर्तन को लिये हुये है। नेत्रों से देखते ही जो स्थिर नहीं है परन्तु स्थिर सा प्रतीत होता है।

ध्यान से देखने के लिये दूसरा वह तत्व है जो क्षण–क्षण बदलते रहने वाले दृश्य के पीछे शाश्वत है, स्थिर है, नित्य है, सत्य है, किन्तु अदृश्य है। महर्षि व्यास का निर्णय है––

वह अदृश्य परमाश्रय, सर्वाश्रय ही दृश्य जगत का मूल है, यह समस्त परिवर्तनशील जगत दृश्य उसी अदृश्य से ही उत्पन्न होता है––यह देख लेना ही ध्यान में दर्शन है।

एवां बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत सत्यमनुतेनेह मर्त्यनाप्नीति मामृतम्।। (श्री मद भा0 11–29–22)

अर्थ––विवेकियों के विवेक और चतुरों के चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि वे इस नाशवान अनित्य जीवन के द्वारा उस एक अविनाशी एवं सत्य तत्व को प्राप्त कर ले।

सन्त नें समझाया है कि नित्य प्राप्त परम सत्य तत्व की अनुभूति के लिये कहीं बाहर नहीं भटकना है। तुम्हारा हृदय ही वह मन्दिर है जिसमें सत्य की अनुभूति होती है।

ध्यान द्वारा प्रकृति के तीनों गुणों के पार देखते ही परमात्मा की अनुभूति का आरम्भ हो जाता है। प्रकृति की सीमा में रहना भोग है प्रकृति के पार होने में ही योग है।

ध्यान में जो बाधक बने वही अधर्म है और ध्यान में, जीवन दर्शन में जो सीढ़ी बने वही धर्म है।

यह भी सन्त निर्णय है कि ध्यान में मन की चंचलता में न बंधो प्रत्युत उसे देखो। जो चंचल है उसी का नाम मन है और जो नित्य स्थिर है उसी का नाम सत्य आत्मा है।

ध्यान में केवल 'मैं हूं' को देखो। 'मैं हूं', के मध्य में 'यह' न रहने दो। जब तुम मैं देह हूं', जाति हूं, ज्ञानी–अज्ञानी हूं, रागी–विरागी हूं, अथवा मैं भोगी हूं, मैं योगी हूं, इत्यादि विशेषणों से अपना परिचय देते हो तब तक माया बद्ध हो और जब 'यह' को निकाल देते हो तब ध्यान में स्वयं को देख पाते हो। इससे भी आगे 'मैं' समाप्त हो जाये, केवल 'हूं' शेष रह जाये–यही सत्य अस्तित्व का बोध है।

अस्तित्व केवल एक है नाम–रूप अनेक हैं। अस्तित्व सत्य है, नाम रूप माया है।

'मैं और मेरा पने की सीमा में विषमता का विस्तार चलता है। भगवान का निर्णय है कि तुम समता में स्थिर हो जाओ तभी योगारूढ़ हो सकोगे।

ध्यान में अपने को जानना ज्ञान है। अपने से भिन्न, पर को जानना और जानकारी का उपयोग करना विज्ञान है और सुदपयोग करना धर्म विज्ञान है।

ध्यान योग से देखने पर ज्ञात होता है कि मन के साथ चित्त की गति प्रीति पूर्वक अपना माने हुए पदार्थ को आकर्षित करने के लिये होती है।

चित्त जिसका चिन्तन करता है उसी की प्राप्ति कभी न कभी प्रकृति–विधान से अवश्य होती है।

इसीलिये भगवान ने बताया है कि:––

मच्चितः सर्व दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिस्यसि।
अथ चेत्वभहंकारन्न श्रोस्यसि विनङ्क्ष्यसि।। (गीता 18/58)

अर्थ––तू मेरे में ही चित्त लगा तभी मेरी कृपा से सर्व दुर्गों को (अर्थात् जो कुछ भी मन से अपना मान लिया है उन स्वीकृतियों अथवा मान्यताओं के पर कोटों को प्रभु के चिन्तन से) पार कर जायगा। तर जायगा और यदि अहंकार की गति में आबद्ध होने के कारण नहीं सुनेगा तो विनाश का दुःख भोगता रहेगा।

जब तक चित्त की गति जगत के विनाशी नाम रूपों तक चल रही है तब तक जगत का बन्धन है, जगत का ही प्रभाव है। इस चित्त की गति जब भगवान की ओर, आत्मा परमात्मा की ओर मुड़ जाती है तब परमात्मा की प्राप्ति होती है। अर्थात् नित्य योग की अनुभूति होती है।

किसी बालक को देख लीजिये उसके सामने जो कुछ भी आता है जो कुछ सुनाई देता है, उसका बालक ध्यान करता नहीं, उसे ध्यान से देखता है।

शिशु अवस्था में बालक का मानस शुद्ध रील के समान है। कैमरे की रील में जिस प्रकार चित्र आते हैं इसी प्रकार बालक के मानस रूपी रील में चित्र अंकित होते रहते हैं।

तीन वर्ष की आयु वाले बालक के मन में जो अंकित हो गया है वह चित्र इतना पक्का है कि उस चित्र को तीस वर्ष के विद्वान में उतनी दृढ़ता से अंकित नहीं किया जा सकता। इसीलिए तीन वर्ष के बालक में जो शुभ सुन्दर संस्कार भरे जा सकते हैं वह तीस वर्ष के विद्वान में भरना दुष्कर है।

तीन वर्ष से सात वर्ष की आयु तक बालक, जो देखता है सुनता है उसका अर्थ इक्कीस से 28 वर्ष की आयु में समझता है।

छोटे बालक के सामने भले बुरे कार्यों का अथवा शब्दों का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्रभाव भले या बुरे उपदेशों का नहीं पड़ता क्योंकि बालक ध्यान से जो कुछ भी देखता है वही उसके ज्ञान में अंकित हो जाता है। जो कुछ ध्यान से नहीं देखता, या नहीं सुनता उसका प्रभाव बालक पर नहीं पड़ता।

सन्त संगति से हम यह समझ सके हैं कि ध्यान तो ऐसी सुलभ निधि है जो मनुष्य को जन्म से प्राप्त है, ध्यान हमारा स्वभाव है। शिशु अवस्था में हमें किसी ने ध्यान की शिक्षा नहीं दी थी, तब हमारे सामने जो भी वस्तु आती थी या दीखती थी उसे हम ध्यान से देखते थे।

ध्यान से देखने के कारण ही किसी नवजात बालक के मन में वह आकृतियां भर जाती हैं जिन्हें वह ध्यान से देखता है बिना नाम जाने ही, बिना बोले ही कोई शिशु उसकी गोद में चला जाता है जिसे बार बार ध्यान से देखता है।

अधिक आयु होने पर विद्वान होने पर हम अपने सुलभ ध्यान की महिमा को भूल गए हैं परन्तु अब पुनः इस परमनिधि का सदुपयोग कर सकते हैं।

हमें किसी से ध्यान की भीख नहीं मांगनी है। ध्यान की क्षमता हम सबको सुलभ है। अभी अभी हम किसी भी वस्तु को ध्यान से देखना आरम्भ कर सकते हैं जो कि इस क्षण सामने है या जो कुछ अपने आप ही हमारे बाहर भीतर हो रहा है।

आज हम साधक जन ध्यान से देखें कि संसार से हमको क्या क्या मिला है? और परमात्मा से क्या क्या मिला है? परमात्मा से जो कुछ मिला है उसमें ध्यान एक अनुपम निधि है।

एक सन्त ने ध्यान से देखते हुए समझाया कि शरीर और आत्मा के मध्य में जो तादात्म्य भाव है इसी मन से है। जिस प्रकार देह के भीतर फेफड़ों में, धड़कन में कोई प्रेम को खोजे तो कहीं मिलेगा ही नहीं उसी प्रकार देह के अंग प्रत्यंग के टुकड़े टुकड़े करके कोई मन खोजे तो पता चलेगा ही नहीं। जड़ चेतन के बीच में जो सम्बन्ध रूपी मन है वह आत्मा से उत्पन्न होता है और ध्यान योगी के समक्ष वह आत्मा में ही विलीन हो जाता है। इसीलिये मनोमय कोष में चलने वाली साधना से किसी की तृप्ति नहीं मिलती। मनोमय कोष के ऊपर विज्ञानमय कोष को पार करने पर संतृप्ति सुलभ होती है।

यह भी गुरु निर्णय है कि ध्यान में सत्य तक अथवा सत्य के साक्षात के लिए स्वयं तक वहीं पहुंच पाता है जो चलता ही नहीं।

जिस प्रकार आंखों से जो भी नाम रूप दिखाई देते हैं वह पृथ्वी तत्व के ही नाम रूप हैं, इसी प्रकार संसार में जो कुछ भी प्रतीत होता है यह सब उसी अखण्ड परमात्मा के ही नाम रूप हैं। जहां भी ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य

का आकर्षण है वह सब परमात्मा का ही है। जो कुछ भी अन्तवान है उसमें अनन्त ही विद्यमान है। जहां कहीं भी 'दो' दिखाई देता है उसमें 'एक' ही बसा हुआ है। जान लेने पर भी जो अनजाना रह जाता है वही रहस्यमय परमात्मा ही अखण्ड ज्ञान स्वरूप है। जब हम ध्यान से देखते हैं आत्मा है। तब उस नित्य सुलभ ज्ञान स्वरूप परमात्मा में ही देखते हैं। अनादि रूप में वही हमारे पीछे अनन्त रूप में वही हमारे आगे विद्यमान है।

ध्यान से देखने पर सांसारिक पदार्थों का संयोग दिखाई पड़ता है जिनका वियोग निश्चित है। ध्यान से देखने पर परमात्मा से मिले हुए तत्वों एवं तथ्यों का योग दिखने लगता है।

हमें समझाया गया है कि ध्यान से तुम पदार्थों को देखते जाओ कुछ पकड़ो नहीं, कुछ छोड़ो भी नहीं, केवल देखते देखते पदार्थों की सीमा पार करते ही तुम परमात्मा के नित्य रहने वाले योग का अनुभव करोगे। ध्यान द्वारा तुम व्यक्तित्व की गहराई में उतर सकोगे। अभी जो कुछ तुम बोलते हो उससे कई गुना अधिक सोच चुके हो। एक बर्फ का ढेला पानी पर डालने से जितना भाग ऊपर दीखता है उसका नौ गुना पानी में डूबा रहता है। इसी प्रकार तुम्हारा नौ भाग जीवन नीचे डूबा हुआ है तुम ऊपर तल पर ही अपनी सीमा बनाकर उसी में सुख दुख लाभ हानि जीवन मरण मान रहे हो।

ध्यान में जो देखते हैं उनका निर्णय है कि प्रथम खण्ड तुम्हारे बोलने का स्तर है। दूसरा खण्ड तुम्हारे सोचने का स्तर है। तीसरा खण्ड दर्शन की भूमि है।

प्रथम खण्ड को वैखरी कहते हैं दूसरे खण्ड को मध्यमा, तीसरे स्तर को पश्यन्ति कहते हैं।

तीसरे तल पर ध्यान योगी, शब्दों के रूप रंग को देखते हैं, विचारों की आकृतियां दीखती हैं। चौथा स्तर है जिसे परावाणी कहते हैं, इस चौथे स्तर में ध्यान पूर्ण होता है। चौथे खण्ड में हमारी आत्मा है। वही आनन्द स्वरूप है।

आध्यात्मिक विज्ञान में अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष के पार आनन्दमय कोष का वर्णन मिलता है।

अज्ञान में मनुष्य सुख का भोगी बना रहता है। ज्ञान विज्ञान में साधक आनन्द का नित्य योगी होता है। आनन्द बाहर नहीं है। बाहर तो उसकी सुखाभास रूप में छाया ही है। हम लोग अज्ञानवश सुख को ही आनन्द मान लेते हैं।

ध्यान योग द्वारा ही अन्तर चेतना में उतर कर कोई भी साधक आनन्द का अनुभव चार शरीरों को पार करने पर ही कर सकता है।

आनन्द मय कोष में पहुंचे बिना कोई भी साधक सिद्ध सुजान ज्ञानी भक्त, आनन्द का भिखारी ही बना रहता है पूर्ण धनी नहीं हो पाता।

अनेकों भक्त तीसरे शरीर से चौथे शरीर को देखते हैं परन्तु पहुंच नहीं पाते। ज्ञानी भक्त चौथी देह से पांचवें शरीर को देखते हैं, योगी जन पाचवें से छठवें शरीर में अधिकार प्राप्त कहते हैं।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का निर्णय है :—

याावद् विलीनं न मनो न तावद् वासना क्षयः।
न क्षीणा वासना ध्यानं न संभवति राघव।। यो0वा0 304/8–14

अर्थ––जब तक मन विलीन नहीं होता है तब तक वासनाओं का भी क्षय नहीं होता, और जब तक वासनायें ही क्षीण नहीं होती हैं तब तक ध्यान योग की पूर्णता नहीं होती।

जिस समय तक वासनाओं का नाश नहीं होता तब तक आत्मातत्व का ज्ञान नहीं होता और जब तक तत्व ज्ञान नहीं होता तब तक समझना चाहिये वासना क्षय नहीं हुआ।

परम गुरु भगवान का निर्णय है कि विषयों के ध्यान चिन्तन से उन्हीं विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से ही उन विषयों के भोगने की कामना बढ़ती है, कामना पूर्ति में विघ्न पड़ने से क्रोध बढ़ता है, क्रोध से मूढ़ता घेर लेती है। मूढ़ भाव से स्मृति भ्रष्ट होती है। स्मृति भ्रम से बुद्धि नष्ट होती है। बुद्धि नाश से साधक का पतन होता है। (गीता 2/62–63)

बुद्धि का नष्ट होना ही मनुष्य का पतन है इसीलिये बुद्धि की शुद्धि से ही साधक का उत्थान है।

विषयों का ध्यान चिन्तन ही पतन की दिशा है, परमात्मा का चिन्तन ध्यान ही उत्थान की दिशा है।

असत संग से ही पतन होता है, सत्संग से ही उत्थान होता है।

वैराग्य के लिये विवेकी साधु सन्त के समागम एवं श्रद्धा की अपेक्षा है। साधु संगति तथा श्रद्धा के लिये निष्काम सेवा तप दान आदि सत्कर्मों को करते रहना आवश्यक है।

विषयों का व्यसनी बनकर भोगों में शक्ति नष्ट करना बहुत बड़ा दुर्भाग्य है, इस दुर्भाग्य का अन्त करने के लिये विवेकी सन्त की सेवा परम आवश्यक है।

परमात्मा जिस पर कृपा करता है उसे ही अपना विवेक प्रकाशित करता है और कृपा उसी साधक पर होती है जो सर्वभाव से परमात्मा में ही निर्भर रहने लगता है।

जगत की भोग वासना ही परमात्मा के बोध में बाधक है, यह वासना ही महा यक्षिणी है। वासना के नाश होने पर ही बन्धन दुःख का नाश होता है। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का निर्णय है।

जब तक साधक, जनता में प्रसिद्ध होने की अभिलाषा का त्याग अर्थात् लोकैषणा तथा स्त्री संयोग की कामना एवं धन की तृष्णा से मुक्त नहीं हो पाता तब तक परमात्मा का योगानुभव नहीं होता।

यह भी गुरु निर्णय है कि जो तृष्णा रहित है, तीनों एषणाओं से मुक्त है, छूटा है उसी तत्व ज्ञानी योगी का ध्यान स्थिर होता है।

ज्ञान द्वारा दर्शन होने में मस्तिष्क की प्रधानता है और ध्यान द्वारा दर्शन में हृदय की प्रधानता रहती है। अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान से जब हम जगत

को देखते हैं तब विचारों द्वारा मस्तिष्क ही दर्शन का साधन बनता है। ध्यान द्वारा शक्ति की अनुभूति के लिये, निर्विचार हृदय ही साधन हो जाता है।

सन्त ने हमें समझाया है ध्यान से देखते भावातीत अवस्था में पहुंचने पर विचार शून्य जागरण में निर्विषय चेतना शेष रहती है, वहीं पर स्वयं के सत्य का साक्षात होता है।

ध्यान अनुपम सम्पदा है उससे अपने को हम अलग नहीं कर सकते लेकिन अज्ञानवश ध्यान का सत्य दर्शन के लिये उपयोग नहीं करते।

यह गुरु निर्देश है कि तुम जिस आश्रय में निरन्तर सुरक्षित हो उसी सद्चित आनन्द स्वरूप परमात्मा को भ्रमवश खोज रहे हो। जो नित्य प्राप्त है उसी का अज्ञानवश विस्मरण हो रहा है। ध्यान में उस नित्य प्राप्त को जान लेने पर उसी का निरन्तर स्मरण रहने लगता है।

ध्यान से ही साधक जड़ता की सीमा को पार करके नित्य चेतन में उतरता है। कोई साधक इस अवतरण से घबरा जाते हैं।

हमें सावधान किया गया है कि जब ध्यान में शून्यता की गहराई में उतरना हो तब भयातुर होकर ध्यान को मत छोड़ो। जो साधक ध्यान पथ में भयातुर होकर लौट पड़ते हैं उन्हें विक्षिप्त होने की सम्भावना है।

यह भय, मन की एक वृत्ति है। मन ही भयातुर होता है। ध्यान से मनोमय कोष को पार कर लेने पर साधक भय से मुक्त होता है।

मन के ही द्वारा हमने वस्तु व्यक्ति का मूल्य बढ़ाया है। मन के ही द्वारा हम वस्तु व्यक्ति से सम्बन्धित हैं। वस्तु व्यक्ति नाम रूप से सम्बन्ध टूटते ही परमात्मा के नित्य सम्बन्ध का अनुभव होता है।

यह सन्त निर्देश है कि जगत के पदार्थों से राग हट जाय तो विराग की जरूरत नहीं रहती। शत्रुता मिट जाती है तो मित्रता भी मिट जाती है। जगत में जितने द्वन्द हैं एक साथ चला करते हैं। जिसे शत्रुता से बचना हो उसे मित्रता न रखनी चाहिए। द्वेष से बचना हो तो राग न रखना चाहिए। दुख से बचना हो तो सुख की कामना छोड़ देनी चाहिए।

यह गुरु निर्णय है कि तुम अपने घोरतम अज्ञान को ज्ञान में देखो। अज्ञान की सीमा ही अहंकार की सीमा है।

जहां तक अपनापन है उसे हटाते जाओ, जहां तक मेरा मेरा का विस्तार है उसको भी पार करते जाओ। 'यह मेरा है, ऐसा कहने को जब कुछ न बचेगा तब समझना साधना की सिद्धि का द्वार मिल रहा है।

हमें यह भी बताया गया है कि प्रातः सायं नियम से जप पाठ पूजा आदि साधना करते हुए भी ध्यान से देखोगे तो पता चलेगा कि सदैव तुम्हारी स्मृति में अन्य वस्तु व्यक्ति के चित्र छाये रहते हैं, ध्यानाभ्यास के समय ही इनका ज्ञान होता है।

मौन शान्त होने पर किसी बाहरी शब्द पर मन चला जाये तब यही देखो कि मन चंचल है किन्तु उस चंचलता को देखने वाला स्थिर है, वही ज्ञान स्वरूप है।

जब तुम देखते हो कि मन चंचल है तब यह देखो कि मन की चंचलता को देखने वाला मैं कौन हूं? और चंचलता को देखने वाला मैं चंचल नहीं हूं। यदि मैं चंचल नहीं हूं तब मैं जहां हूं वहीं नित्य निरन्तर स्थिर अखण्ड परमात्मा है।

तुम यही अनुभव करो कि जड़ का दृष्टा जड़ नहीं हो सकता वह नित्य चेतन है। ठहरो और देखो!

हमें यही समझाया गया है कि निरन्तर सजग रहकर मन के अथवा अहंकार के मूल श्रोत को देखो अथवा 'मैं' का स्फुरण जहां से हो रहा है उस मूल को जान लो। उस श्रोत को जानने के लिये कुछ करना नहीं है। करने से भोग होता है न करने की स्थिति में ठहरने से योग होता है।

यह भी गुरु निर्णय है कि परमात्मा की अनुभूति के लिये तुम्हें अहं के आकारों को उतार करके अति दीनहीन अकिंचन होना चाहिये।

कोई सम्राट अपने ऐश्वर्य वैभव के बल से परमात्मा को नहीं पा सका। प्रभु दीन पर अनुग्रह करते हैं।

किसी जिज्ञासु सम्राट से एक सन्त कह रहे थे कि जब उस परम सत्य से अपरिचित हो जो तुम्हारे निकटतम है, तुम्हारे भीतर ही परमाश्रय रूप में विद्यमान है तब जो बाहर है, तुमसे भिन्न है, दूर है, उससे परिचित होने का व्यर्थ ही विश्वास कर रहे हो।

एक सन्त ने किसी दर्शनार्थ आये हुए श्रद्धालु से आते ही पूछा कि तुम कौन हो? किसलिये आये हो? कहां से आये हो? श्रद्धालु जिज्ञासु ने उत्तर

दिया यही जानने आया हूं कि मैं कौन हूं? सन्त ने कहा कि जब तुम हो, तब दूसरे से यह प्रश्न कदापि न करो; तुम स्वयं ही जानो स्वयं से ही पूछो कि मैं कौन हूं और उत्तर की भीतर ही प्रतीक्षा करो।

यदि नाम स्मरण का अभ्यास हो तब इस ध्यान से नाम स्मरण करो कि जिसका स्मरण हो रहा है वह इसी क्षण के पीछे नित्यचेतन तत्व के रूप में विद्यमान है वह दूर नहीं है उसे आना नहीं है, वह है ही।

तुम अपने को जिस नाम रूप से अथवा जिस गुण से कला से सम्बन्धित बना लेते हो उसी मय अपने को मानकर उसी के अभिमानी हो जाते हो।

अज्ञान में विनाशी वस्तु व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ लिया है उसी के अभिमानी हो, लोभी हो मोही हो अब ज्ञान में अविनाशी तत्व को जानो तब विनाशी वस्तु एवं व्यक्ति के प्रभाव से मुक्त हो सकोगे।

अविनाशी तत्व के लिये ध्यान करना आवश्यक न होगा अपितु ध्यान से वर्तमान में जो प्रत्यक्ष है सुलभ है उसे देखना आवश्यक होगा।

हमें सावधान किया गया है कि प्रायः हर समय वर्तमान में जो कुछ है या हो रहा है उसे ध्यान से न देखकर बीते हुए का मनन या भविष्य का चिन्तन चलता रहता है। तुम ध्यान से इस अतीत की स्मृति और भविष्य के चिन्तन को देखते रहने के लिये सजग रहो। बस ठहरो और देखते रहो।

हमें यह भी समझाया गया है कि अपने सम्बन्धियों से तुम नित्य शब्दों को सुनते हो और ध्यान से शब्द को मन से पकड़ लेते हो बुद्धि से अर्थ को

जान लेते हो और अर्थ के भोगी बनते हो तभी अनर्थ की परिधि में भटकते हो।

अब शब्द को ध्यान से सुनो लेकिन जिधर शब्द ध्वनित हो रहा है उधर मन न जाने दो बल्कि ध्यान से देखो कि कानों में किस प्रकार पकड़ा जा रहा है। कर्ण के छिद्र द्वारा नाड़ी तन्तुओं के सहारे मस्तिष्क, कितनी तीव्र गति शब्द को ग्रहण कर रहा है। विद्युत शक्ति के सहारे शब्द की गति बाहर चलती है उसी प्रकार चेतना के सहारे शब्द की गति भीतर की ओर चलती रहती है, हम लोग ध्यान से देखें तो शब्द के सहारे, रूप के सहारे, रसना द्वारा स्वाद के सहारे, त्वचा द्वारा स्पर्श के सहारे, और मन बुद्धि के सहारे उस अन्तर द्वार में पहुंच सकते हैं जहां से सत्य परमात्मा का दर्शन होता है। दर्शन के लिये अन्तर यात्रा करनी होती है।

यह गुरु निर्णय है कि ध्यान का द्वार अहंकार के पीछे मिलता है किन्तु हम बाहर की ओर भागते रहते हैं। इन्द्रियां विषयों की ओर भागती हैं मन की गति इन्द्रियों द्वारा हो रही है। बुद्धि मन के पीछे चल रही है और अहंकार मन बुद्धि आश्रय से जगत की ओर देख रहा है।

यह भी गुरु निर्णय स्मरणीय है कि जब बीते हुए का मनन एवं भविष्य का चिन्तन चलने लगे तभी वर्तमान में जो कुछ सामने हो उसे देखने का अभ्यास दृढ़ करो, व्यर्थ चिन्तन को ध्यान से छोड़ते रहो। मन की चंचलता को ध्यान से देखो। ऐसा न कहो कि मेरा मन चंचल है, मेरा मन दुष्ट है अथवा पापी है। मन को अपना मानना छोड़कर उसकी चंचलता को दृष्टा होकर ध्यान से देखो। इसी प्रकार चित्त के चिन्तन को एवं बुद्धि के विचारों

के प्रवाह को भी देखो। देखते रहने का ही अभ्यास दृढ़ कर लो। जो कुछ देंखो उससे अपने को न मिलाओ।

इतना और समझ लो कि केवल सायंकाल था प्रातः समय में ही कुछ देर देख कर देखना बन्द न करो, प्रत्युत ऐसा अभ्यास बढ़ा लो कि हर समय जो कुछ भी हो रहा है उसे देखते ही रहो। कर्ता न बन कर केवल दृष्टा रहो।

यह भी गुरु निर्देश है कि तुम समझते हो कि मैं चल रहा हूं, खा रहा हूं, पी रहा हूं, सुन रहा हूं, देख रहा हूं स्वास ले रहा हूं, जागता हूं, सोता हूं—यह सब तुम नहीं करते हो प्रकृति में स्वतः ही हो रहा है। अहंकार मूढ़ता वश कर्ता बन रहा है।

ध्यान से देखने से ज्ञान होता है कि परमात्मा की जहां शक्ति है वहीं गति है। गति ही शक्ति का परिचय दे रही है और शक्ति ही अखण्ड सत्ता का परिचय दे रही है। मार्ग में चलने को गति कहते हैं। नीचे गिरने को अधोगति कहते हैं। तेजी के साथ चलने बढ़ने को प्रगति कहते हैं। ऊपर चढ़ने को उन्नति कहते हैं। सर्वोपरि दिव्यता की ओर बढ़ने को सदगति कहते हैं। और जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता मिटती जाये इसे ही परमगति कहते हैं।

नेत्रों की गति रूप तक है। कर्णेन्द्रिय की गति शब्द तक है। रसना की गति स्वाद तक है। नासिका की गति गन्ध तक है। त्वचा इन्द्रिय की गति स्पर्श तक है। मन की गति सुखद वस्तु व्यक्ति से सम्बन्धित बनाये रखने तक है अर्थात स्मृति में भरे रहने की है।

मन ही विनाशी वस्तुओं से सम्बन्धित बनाये रखता है और मन के द्वारा ही अविनाशी आत्मा परमात्मा से सम्बन्ध होता है। मन के द्वारा ही गति अधोगति, प्रगति होती है और आत्मज्ञान होने पर विवेक के सहारे मन के द्वारा ही सद्गति और प्रेम के द्वारा परमगति होती है।

आत्म दर्शन के लिये ध्यान में उसका ध्यान बाधक बनता है जो हमने मन में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कर लिया है। जगत–दृश्य की स्मृति ही परमात्मा की स्मृति में बाधक है। जगत की विस्मृति में ही परमात्मा की स्मृति सहज हो जाती है। इसी प्रकार जगत की, वस्तु व्यक्ति का ध्यान छूटने पर परमात्मा ध्यान में आ जाता है अर्थात् ध्यान ही परमात्मा मय हो जाता है।

ध्यान में जगत के नाम रूपों का हट जाना ही मुक्ति है। ध्यान में परमात्मा का शेष रह जाना ही भक्ति है। ज्ञान में किसी भी कामना का स्थान न रहना ही शान्ति है। प्रेम में केवल परमात्मा की अनुभूति ही आनन्द है।

ध्यान से देखने पर शान्ति, मुक्ति, भक्ति, आनन्द के लिये हम किसी अन्य का अर्थात् तन, धन, परिवार आदि किसी वस्तु व्यक्ति का आश्रय नहीं लेना है। क्योंकि पराश्रय ही परम सत्याश्रय में बाधक है फिर भी हम पराश्रय इसीलिये नहीं छोड़ पाते क्योंकि पराश्रय से मिलने वाले सुखों में आसक्ति हो गई है। आसक्ति ही विरक्ति नहीं आने देती। आसक्तियों के कारण ही मन वस्तुओं एवं व्यक्ति में अटक रहा है।

हमें यह भी समझाया गया है कि प्रायः अनेकों नर नारी दर्पण में नित्य ही अपना मुख देखते हैं लेकिन ध्यान से मुख को नहीं देखते बल्कि मुख सुन्दर बनाने वाली या असुन्दर बनाने वाली वस्तु को देखते हैं। इसीलिये जो

कुछ असुन्दर दीखता है उसे हटा देते हैं और जिसके संयोग से सुन्दरता पूर्ण होती है उसे बढ़ा लेते हैं।

आज ही तुम ध्यान से दर्पण में मुख को देखो, कुछ समय तक देखते रहो, यदि मन द्वारा ध्यान से मुख देखोगे तो मन में आकृति भर जायेगी। बुद्धि युक्त होकर ध्यान से देखोगे तब यह ज्ञान होगा कि मुख क्या है? किस धातु से बना है? तब तो मुख में हाड़ मांसादि जो भी है वह दीखने लगेगा और देखते–देखते मुख में सौन्दर्य किसका है? चेतना किसकी है? गति किसके द्वारा हो रही है। इत्यादि प्रश्नों से उस निर्विकार तत्व का दर्शन, विकार, वानमुखाकृति में होने लगेगा।

ध्यान में शान्त रह कर देह को अथवा, हाथ को पैर को, सारे अंगों को, मन लगा कर देखो, फिर बुद्धि योग द्वारा ध्यान से देखते हुए देह के तत्वों का ज्ञान होगा। देह में क्षण–क्षण बढ़ने और घटने वाले अणुओं की गति का ज्ञान होगा। तुम्हारे कुछ किये बिना ही दो रूपी कारखाने में दिन रात कितना महान कार्य हो रहा है, जिसे तुमने कभी ध्यान से देखा न होगा।

देह का सम्बन्ध एवं जीवन करोड़ों मील दूर सूर्य आदि ग्रहों से और नित्य अखण्ड अनन्त परमात्मा से है––इसका अनुभव होगा। ठहरो और देखो!

जगत में खनिज वर्ग, वनस्पति वर्ग तथा कीटपतंग पक्षी पशु वर्ग एवं मनुष्य वर्ग आदि में जो क्रमशः गति हो रही है वही परमात्मा की अनन्त सत्ता का, अखण्ड ज्ञान का परिचय दे रही है।

यह संसार चक्र की भांति चलता ही रहता है जो कि परमात्मा से ही आरम्भ होता है, परमात्मा में ही चलता है और परमात्मा में लीन होता है।

प्रत्येक प्रारम्भ अर्थात् आदि निरन्तर अनादि की ओर तथा प्रत्येक वस्तु का अन्त उस अनन्त की ओर संकेत कर रहा है। जो अनादि है और अनन्त है वही परमात्मा है। वही सर्वाश्रय है, सब शक्तिमय, सर्वमय है। आदि में परमात्मा से विमुखता का आरम्भ होता है और अन्त में परमात्मा से विमुखता का अन्त होता है क्योंकि आदि में संसार सन्मुख होता है और अन्त में परमात्मा ही सम्मुख होता है। लेकिन संसार में आसक्त व्यक्ति परमात्मा को नहीं देख पाता। परमात्मा के सन्मुख होने के प्रथम परमात्मा से दूरी कहीं नहीं होती; उसी में रहते हुए अज्ञानवश विस्मृति होती है, परमात्मा की स्मृति ही उसे सुलभ कर देती है।

यह भी ध्यान दृष्टा का निर्णय है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु अपने आनन्द के लिये ही उत्पन्न होती है। ऐसी अनुभूति ध्यान योगी ही कर पाते हैं। कोई भी पुष्प स्वयं आनन्द के लिये ही खिलता है उसका सौन्दर्य परमात्मा विष्णु के अनन्त सौन्दर्य का अंश है विश्व व्याप्त जीवन का नाम ही तो विष्णु है। यह विश्व विष्णु की ही अभिव्यक्ति है उन्हीं का अवतरण है।

एक सन्त ने समझाया कि ध्यान से देखते देखते आत्मा ही देहाकार प्रतीत होती है और देह के पीछे लौटते लौटते अदृश्य आत्मा ही शेष रह जाती है।

यह सन्त का आदेश है कि तुम इस भांति जिओ, निरन्तर आनन्दित रहो कि तुम्हें देखकर दूसरे लोग आनन्द से जीने का संकल्प करें। तुम्हारी साधु साधना का परिचय, मृत्यु के समक्ष भी प्रफुल्लित रहने से मिलना चाहिए। तुम यह देखकर नित्य सायं और प्रातः प्रभु को धन्यवाद दो कि जो

अपने सामर्थ्य के बाहर था वह दिन सुलभ हो गया, रात मिल गई और पुनः प्रातः देखने को मिल गया। ठहर कर ध्यान से देखते देखते तुम्हें वहां पहुॅचना है जहां कामना समाप्त हो जाती है। वहीं विश्राम मिलता है।

मन का मौन होना, बुद्धि का स्थिर होना और अहं अभिमान शून्य होना, तथ्य को समझ लेना, अपनी ओर से कुछ न जोड़ना यही ध्यान की साधना है।

सन्त मतानुसार इस अविनाशी नित्य प्राप्त आत्मा में अनन्त शक्ति है वह योगियों को भी अगोचर है फिर भी उसका परिचय विशुद्ध ध्यान में ही समाधिस्थ होने पर मिलता है।

विशुद्ध ध्यान द्वारा कर्म की बेड़ी कट जाती है उस समय यह जीवात्मा, परमात्मामय हो जाता है। ध्यान योगी, इस आत्मा को ध्यान में अनुभव करते हैं इसे अनन्त गुण ज्ञान का भंडार बताते हैं। संसार के संब से जीवात्मा बन्धन में पड़ा है वही ध्यान में परमात्मा का योगानुभव करते हुए मुक्त स्वरूप महात्मा कहा जाता है।

जो आत्मा की अचिन्त्य शक्ति को एवं अगाध ज्ञान को और असीम प्रेम को ध्यान में देखता है वही परमात्मा पद में प्रतिष्ठित देखा जाता है।

ध्यान की सिद्धि के लिये अटूट धैर्य चाहिये, पूर्ण संतोष एवं जाग्रति चाहिये, निरन्तर उत्साह चाहिये, तत्व विवेचनी बुद्धि चाहिये और जहां जहां राग हो उसका त्याग चाहिये। ध्यान में तत्पर साधक यदि कहीं भी रागी होगा, ममता करेगा संग्रह करेगा, विनाशी वस्तु का संगी बनेगा वहीं से उसका ध्यान टूट जायेगा।

ध्यान लगाकर ज्ञान में जो स्वयं के सत्य को जान लेता है उसे तत्व वेत्ता कहते हैं।

भक्त उसे ही कहते हैं जिसे भगवान के अतिरिक्त दूसरा कोई दीखता ही नहीं। भगवान से दूरी रहती ही नहीं।

जिसका प्रेम परमात्मामय हो जाता है वह विष को भी अमृत में परिणत कर सकता है। अविवेकी, अहंकार तो अमृत को भी विषाक्त कर देता है।

अच्छे बीजों के माध्यम से दुर्गन्ध युक्त खाद भी सुगन्ध में परिणत हो जाता है। जो दुर्गन्ध है वह सुगन्ध का ही पतित रूप है और सुगन्ध, दुर्गन्ध का ही विकसित रूप है।

यह भी गुरु निर्णय है कि काम से सनी हुई प्रीति ही किसी दिन निष्काम प्रेम में परिणित हो जाती है। क्रोध में प्रगट होने वाली शक्ति ही शान्ति में बदल जाती है। प्रत्येक देह में मन छिपा है, मन में ही आत्मा छिपा है, और आत्मा में ही परमात्मा छिपा है, ध्यान से जो खोद लेता है वही परमानन्दमय निधि को पा जाता है।

तुम देह तथा मन की निन्दा करते हुए सन्तोष न करो, इन्हें ध्यान से देखो। मन में असीम शक्ति तथा अद्भुत कलायें छिपी हैं। मन परमात्मा की अद्भुत विभूति है।

यह भी गुरु निर्णय हैं– तुम सुन कर या पढ़ कर सत्य के अथवा परमात्मा के विषय में कितना ही अधिक जान लो फिर भी तुम्हारी जानकारी

से सत्य परमात्मा शेष ही रहेगा क्योंकि तुम्हारी जानकारी की क्षमता पूर्ण नहीं है। परमात्मा अथवा सत्य असीम है अनन्त है।

आँखों से तुम किसी वस्तु को देख सकते हो लेकिन वस्तु के सत्य को देखने के लिये प्रज्ञा दृष्टि, ज्ञान दृष्टि खुलने की अपेक्षा होती है। अन्तर में ज्ञान चक्षु खुलने पर सारा जगत परमात्मा में और परमात्मा जगतमय दीखने लगता है।

यह श्रुति निर्णय है कि परमात्मा प्रति क्षण हम सभी के चारों ओर विद्यमान हैं, हमारी प्रत्येक स्वांस उसी में चल रही है, प्रत्येक अंग उसी की सत्ता में गतिशील है किन्तु अज्ञानवश हर किसी को उसका बोध नहीं होता। अहंकार की जड़ता के कारण उसके दर्शन का द्वार बन्द रहता है।

जिसे अपना पता नहीं है वही अपने को 'मैं हूं' कहता है और यह मेरा है, मानता है––वही अज्ञान में है। अज्ञान में ही हिंसा है आत्मज्ञान में ही अहिंसा सधती है। आत्मज्ञान के लिये ध्यान साधना आवश्यक है। ठहरो और ध्यान से देखो!

एक सन्त समझा रहे थे कि परिवार के सम्बन्धियों तथा प्रिय वस्तुओं के ध्यान में मन नहीं ऊबता है लेकिन ध्यान से अन्तर यात्रा करने में थोड़े समय में ही मन ऊबने लग जाता है। व्यर्थ चर्चा में रेडियो सुनने में मन नहीं ऊबता है लेकिन अपने अध्ययन में अथवा आत्मनिरीक्षण करते हुए मन थक जाता है।

यह सन्त सम्मति है कि जब साधना में मन ऊबने लगे तब और अधिक तत्पर होकर, बैठकर ही नहीं, कभी–कभी खड़े होकर भी अन्तर चेतना में उतरने के लिए ध्यान की कुदाली चलाते जाओ।

ध्यान में अथक प्रतीक्षा, अटूट क्षमता की आवश्यकता है। ध्यान में किसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए केवल अकेले होकर ही अन्तर यात्रा के लिए दृढ़ संकल्प करना चाहिए।

ध्यान से देखते देखते जब दृष्टि साफ हो जाती है तब परमात्मा अदृश्य नहीं रह जाता है जो भी दृश्य है वह परमात्मा हो जाता है यह परम गुरु भगवान का निर्णय है :–

जो सर्वत्र मुझ परमात्मा को देखता है और सब भूत प्राणियों को मुझ परमात्मा में देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूं और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता है। (गी0 6/30)

––––

प्रभु जानते हो सब कुछ हम फिर भी सुनाते हैं।
जो कुछ दशा है मन की कहने में लजाते हैं।।

हे नाथ तुम्हीं से तो मिलता है हमें सब कुछ।
तुमको ही भूल करके हम दुःख उठाते हैं।

खोजें कहां तुम्हें किस रूप में पहचानें।
तुममें ही हैं पर तुमको हम देख न पाते हैं।।

अभिमान, मोह, माया में मग्न हो रहे हम।

उद्धार के लिये अब प्रभु तुमको बुलाते हैं।।

वह त्याग का बल दे दो जिससे कि शान्ति पायें।
हम ''पथिक'' तुम्हीं से प्रभु यह आस लगाते हैं।।

————

प्रभु अपने शरणागत को स्वीकार किया करते हैं।
अधमोद्धारक हैं सबका उद्धार किया करते हैं।।

कितना कोई पापी हो, द्वेषी परसन्तापी हो।
वे सुहृद पर गुरु सबका उपचार किया करते हैं।।

पूरी होती भक्तों की, बनती है अनुरक्तों की।
वे विमुख जनों को भी तो शुचि प्यार किया करते हैं।।

जिसको सब हैं ठुकराते, प्रभु उसको भी अपनाते।
करुणानिधि ही तो सबका निस्तार किया करते हैं।।

जो अटक रहा हो आकर जो भटक रहा हो पाकर।
ऐसे सम्भ्रान्त पथिक को प्रभु पार किया करते हैं।।

धर्म को देखो

धर्म को मानते ही न रहो, ध्यान से देखो!

प्रकाश होते हुए भी यदि देखने की दृष्टि न खुली हो तो जो कुछ भी है वह देखा नहीं जा सकता, पकड़ा जा सकता है इसी प्रकार अखण्ड अनन्त ज्ञान रूपी प्रकाश के होते हुए जब तक हमारे जीवन में देखने की बुद्धिरूपी दृष्टि नहीं खुली अथवा प्रज्ञा चक्षु नहीं खुले तब यथार्थ देखना, दर्शन होना सम्भव नहीं होता।

जगत में सभी प्राणी दुखी होते हैं परन्तु दुःख का कारण नहीं समझ पाते क्योंकि सभी प्राणी सुख पकड़ने के अभ्यासी हैं किन्तु सुख के अन्त में आने वाले दुख को देखने की दृष्टि नहीं खुली है।

हर एक प्राणी जब कभी दुःखी होता है तब किसी न किसी प्रकार की कमी से ही दुखी होता है। करोड़ों प्राणी इसीलिये दुखी रहते हैं क्योंकि उनमें बुद्धि विकसित नहीं है विद्या नहीं है। लेकिन आश्चर्य की बात है लाखों बुद्धिमान विद्वान भी दुख भोगते दिखाई देते हैं उन्हें भी कोई न कोई कमी प्रतीत होती है, उसकी पूर्ति नहीं कर पाते।

हम अनेकों साधक धर्म को मानते हैं, दान पुण्य, भजन, पूजा पाठ प्रार्थना, आराधना तप व्रत करते हुए भी कोई धन की कमी से, कोई बल की कमी से कोई बुद्धि या विद्या की कमी से अथवा कोई पदाधिकार की कमी से तथा कोई प्रिय सुखद संयोग की कमी से सुखद परिस्थिति में भी दुखी होते रहते हैं।

अनुभवी गुरुजनों का सन्देश है कि तुम संसार में चाहे जितनी धन मान भोग ऐश्वर्य की अनुकूलता प्राप्त कर लो फिर भी पूर्णता की तृप्ति विनाशी के संयोग से हो ही नहीं सकती।

जगत में जो कुछ भी सुखद प्रतीत होता है वह सब कुछ नश्वर है, सुख क्षणिक है, वस्तु परिवर्तनशील है इसीलिये जगत के संयोग भोग से पूर्णानन्द की प्राप्ति होगी ही नहीं। पूर्णता की प्यास पूर्ण के योग से ही शान्त हो सकती है।

हम सभी साधकों को उस पूर्ण को जानना है जिससे सब कुछ की उत्पत्ति होती है। अन्त होने पर जो शेष रहता है वही अनन्त है वही पूर्ण है उसी के योग में पूर्णता है।

हम वाल्यावस्था में नित्य प्रातः स्नान करते हुए मन्दिर में दर्शन के लिये जाते हुए, हर किसी का बनाया हुआ भोजन न खाते हुए अपने को धर्मात्मा मानते थे। किसी पर्व में गंगास्नान करते हुए अथवा विशेष दिवसों में विशेष पूजा पाठ व्रत दान करते हुए अपने को धर्मनिष्ठ समझते थे।

हम हिन्दू हैं हमारा धर्म सर्वोपरि श्रेष्ठ है। यह जो बौद्धधर्म, जैनधर्म, इस्लाम, ईसाई आदि लोगों का धर्म नहीं है, सब अधर्म है ऐसा मानते थे और मन से घृणा द्वेष निन्दा विरोध करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे हम धर्म के अभिमानी बने रहकर अहंकार को सन्तुष्ट करते रहे परन्तु धर्म ज्ञान की अपूर्णता का कभी दुख हुआ ही नहीं।

अध्ययन से ज्ञात हुआ कि मनुस्मृति, महाभारत तथा अन्य संहिता गीता रामायण आदि में कहीं धर्म के दस लक्षण, कहीं आठ प्रकार की विधि, कहीं

तीस लक्षण, कहीं छब्बीस लक्षण से युक्त अमृतमय धर्म की चर्चा की गई है। कहीं पर धारणा शक्ति को ही धर्म कहा है। जो जगत को धारण किये हुए हैं वही धर्ममय है।

कहीं पर सब धर्मों का सार कह दिया गया है—कि जो तुम अपने लिये जैसा व्यवहार चाहते हो वैसा दूसरों के साथ करो जो दूसरों से अपने लिये नहीं चाहते हो वह दूसरों के साथ न करो, क्योंकि यही दुराचार है।

कहीं पर कहा गया है, परहित करने के समान कोई धर्म ही नहीं है दूसरों को दुख पीड़ा पहुंचाने के समान कोई अधमता नहीं है।

अनेकों व्यक्ति धन के लिये धर्माचरण का पालन करते हैं अनेकों व्यक्ति धर्म के लिये धन का दान करते हैं। अनेकों मनुष्य अपने लिये दूसरों को धर्म परायण रहना पसन्द करते हैं लेकिन स्वयं दूसरों के लिये धर्म भूल जाते हैं। यथार्थदर्शी महात्माओं का निर्णय है कि अपूर्ण के संयोग से धर्म अपूर्ण रहता है। पूर्ण परमात्मा के योग से ही धर्म पूर्ण होता है।

जीवात्मा परमात्मा की एकता, अभिन्नता की अनुभूति अथवा भगवान की अभेद भक्ति अथवा निर्भरा भक्ति ही धर्म की पूर्णता है।

जहां पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द, उपलब्ध है वहीं धर्म की पूर्णता हैं। अपूर्णता की वेदना पूर्णता में ले जाती है।

जो टलता नहीं जिसका टालना सम्भव नहीं, जिसे बदला जा सकता नहीं वही स्वधर्म है।

स्वयं को जानना ही स्वज्ञान है। स्वज्ञान ही स्वधर्म है। अहिंसा हम सबका स्वभाव है। हिंसा अवश्य ही दुःख में ले जाती है। अहिंसा स्वधर्म है।

प्रेम आत्मा का स्वभाव है अतः प्रेम में ही रहना, प्रेम के विपरीत कुछ न करना स्वधर्म है। विषमता ही प्रेम के विरूद्ध ले जाती है अतः सदैव समता में ही स्थित रहना स्वधर्म है।

स्वधर्म में स्थित रहने से सांसारिक धन मान भोग भूमि भवन प्रतिष्ठा आदि कुछ भी न मिले तब भी स्वधर्म शान्तिमय है, आनन्दमय है, भय चिन्ता दुःख से मुक्त रखने वाला है, लेकिन पर धर्म के आश्रय से संसार का सब कुछ सुलभ हो जाये तब भी वह भयावह है, चिन्ता, दुख, अशान्ति में रखने वाला है।

स्वधर्म परायण मानव भक्ति एवं सत्संग बिना रहता ही नहीं, यह तो उसका सहज कर्तव्य हो जाता है। स्वधर्म परायण मानव के लिये सारी सृष्टि सुख देने के लिये सजी है। दुःख तो धर्म विमुख के लिये है।

यथार्थदशी का निर्णय है कि धर्मात्मा मानव में ही शान्ति मुक्ति भक्ति सुलभ होती है। दानवता में ही अशान्ति एवं भोगासक्ति और दुःख है। धर्मात्मा मानव ही दानवता पर विजयी होकर दिव्यता प्राप्त करता है।

धर्म प्रेमी मानव वही जो मर्यादा में रहता है। दानव राक्षस वहीं है जिसका अहंकार कठोर है, जो दरिद्र है, अतृप्त अशान्त है।

जिस जीवन में विवेक प्रेम सुमति दया करुणा तप त्याग और आनन्द का सौन्दर्य दर्शित होता रहता है उससे प्रभु का अंश प्रगट हो रहा है और

जिसके भीतर अहंकार कुमति मोह क्रूरता कठोरता लोलुपता उच्छंखलता आदि दुर्गुण भरपूर हैं वहां राक्षस की शक्ति काम कर रही है।

मनु महाराज ने दस लक्षण से युक्त व्यक्ति को मानव निर्णय किया हैः— (1) बिना दिये अदत्त वस्तु न लेना (2) हिंसा न करना (3) व्यभिचार न करना (4) कठोर वचन न बोलना (5) मिथ्या वचन न बोलना (6) चुगली न करना (7) व्यर्थ प्रलाप न करना (8) पराया धन लेने की इच्छा न करना (9) किसी का अनिष्ट चिन्तन करना (10) मिथ्या दृष्टि न रखना। इसके विपरीत कुलक्षण जिसमें अंश में अधिक हो उतना ही अधिक अधार्मिक व्यक्ति समझा जाता है।

गुरु वचन द्वारा हमें यह भी ज्ञात हुआ कि हम अहिंसा परम धर्म है—इस पर प्रवचन सुनते हुए या व्याख्यान देते हुए जब तक देह की, धन की, परिवार की, ममता से नहीं छूट पाते और जब तक देह का सन्मान और नाम की प्रसिद्धि चाहते हैं तब तक लोभी मोही अभिमानी बने रहने के कारण हिंसा से नहीं छूट सकते। क्योंकि अहिंसा की अपूर्णता का दुःख नहीं है।

अहिंसक वही होता है जिसके हृदय में आनन्द भरपूर रहता है और आनन्द से तृप्त हृदय द्वारा ही प्रेम प्रवाहित रहता है। प्रेम में ही अहिंसा की पूर्णता है—ऐसा हमने सन्त से सुना है।

अहंकार कभी अहिंसक नहीं हो पाता। अहंकार को ही किसी न किसी प्रकार की कमी का दुख होता है, अहंकार को ही लाभ का और हानि का भय रहता है।

यह अहंकार ही कभी धन से, कभी यश सम्मान से, पदाधिकार से अथवा ज्ञान से, त्याग से अपने को तृप्त करना चाहता है किन्तु अहंकार की पूर्ति कभी होती नहीं।

अहंकार रूपी अणु के पिघलने पर गलने पर ही ब्रह्ममय हुआ जाता है किन्तु अहंकार संसार से ही पूर्णता प्राप्त करना चाहता है।

अहिंसा व्रत के लिये यही गुरु निर्णय है :—किसी जीव की हत्या न करो। किसी को न सताओ। किसी पर शासन न करो। किसी को अपने आधीन न बनाओ। सदा समस्थित रहो। यह भी गुरु निर्णय है कि किसी से डरो नहीं। किसी को डराओ नहीं। किसी को हीन न मानो स्वयं को भी हीन न समझो। किसी से घृणा न करो। प्रिय वस्तु या व्यक्ति के मिलने पर हर्ष न मानो और नहीं मिलने पर शोक न करो। सुख में प्रफुल्लित न हो उठो और दुःख में दीन न बनो। देह में आसक्त न रहो। मृत्यु से भय न करो। प्रशंसा में फूलो नहीं। निन्दा में खिन्न न बनो यही समता—धर्म है। यही समत्व योग है। समता में ही अहिंसा पूर्ण होती है। प्रेमपूर्ण होने पर समता आती है।

सन्त संगति से हमें यह भी ज्ञात हो सका कि जब तक मनुष्य धन, पदाधिकार सम्मान भोग चाहता है तब तक वह धार्मिक नहीं है। जो मनुष्य भगवान को अथवा परमात्मा को चाहता है तथा बन्धनों से मुक्ति चाहता है वही धार्मिक है।

किसी मूर्ति के सामने, मन्दिर में लोभी अभिमानी मोही जन भी सर झुकाते हैं परन्तु मनुष्य की मूर्ति में प्रभु को नहीं झांक पाते।

धर्म परायण साधक को, ज्ञान दृष्टि खुलने पर सभी में परमात्मा की शक्ति तथा विकास की प्रज्ञा दीखती है। सभी में कोई न कोई विशेषता परमात्मा की जिसे दीखती है वही धार्मिक पुरुष है।

जिससे मन में उत्तेजना जाग्रत हो, विषमता बढ़ती जाये वह अधर्म है। जिससे सन्तुलन समता शान्ति निर्मित हो वही धर्म है। हमें समझाया गया है कि दूसरों के दोषर्गुणसु दुनकर तुम्हारे हृदय में करुणा जाग्रत होनी चाहिये——ऐसा तभी होगा जब तुम धर्म परायण होगे। अधार्मिक व्यक्ति प्रायः दूसरों के गुणों की चर्चा सुनकर भी अभिमानवश उस गुणवान को दोषी बताकर अश्रद्धा उत्पन्न करता है।

धर्म एवं धर्मों को मानने और जानने में बहुत अन्तर है——

अज्ञानी धर्मों को मानता है और ज्ञान विज्ञान से युक्त विद्वान, धर्म को जानता है। सत्य एक है उसका एक ही धर्म है। यह भी गुरु निर्णय है कि अज्ञान की निवृत्ति केवल शास्त्र पढ़ने से ही नहीं होती क्योंकि पढ़ने से अहंकार अपने को विद्वान मानकर मूर्खों की मूर्खता का भोगी बनता है वह स्वयं के सत्य का योगी नहीं हो पाता। वह अनेक धर्मों को मानता है।

धर्म एवं सत्य, ग्रंथों में नहीं मिलता वह तो ध्यान योग के द्वारा देखने पर स्वयं में ही मिलता है।

कोई भी बालक आरम्भ में जिनके संग में रहता है उनसे जो कुछ धर्म के विषय में सुनता है उसे ही मान लेता है वह धर्माभिमानी बन जाता है किन्तु धर्म तत्व को नहीं जानता। धर्माभिमानी जन ही धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं द्वेष निन्दा घृणा विरोध से अशान्त रहते हैं।

धर्माभिमानी लोग परस्पर दूसरे धर्माभिमानी की मानहानि, धनहानि, जनहानि करते हुए अपने धर्म की प्रगति उन्नति मानते है किन्तु निर्भय निश्चित शान्त स्वस्थ आत्मस्थ नहीं हो पाते।

जो धर्म को मानने के पश्चात ज्ञान विज्ञान में उसे जानते हैं वे ही निर्भय, चिन्ता मुक्त, शान्त, स्वस्थ, आत्मस्थ होकर सत्य आनन्द का अनुभव करते हैं। धर्म परायण सज्जन वस्तु के लोभी व्यक्ति के मोही, सुख के कामी नहीं होते वह अधर्म के विरोधी होते हैं।

———–

मंगलमय घड़ी आई, कोई जाने न जाने।।
जब ते मिले दरश सद्गुरु के मनहुं परम निधि पाई है।।कोई।।
शुभ सत्संगति सुलभ भई जब ज्ञानामृत झरि लाई है।।कोई।।
सुनि–सुनि निज प्रियतम की महिमा मन में सुरति समाई है।।कोई।।
एकहि मनन एकहि चिन्तन एकहि छबि मन भाई है।।कोई।।
सकल विश्व में उस सुन्दर की शुचि सुन्दरता छाई है।।कोई।।
पथिक धन्य वह जिसने अपने प्रभु से प्रीति लगाई है।।कोई।।

———

न भूलो परमेश्वर का ध्यान, यही तो अपने जीवन प्रान।।
यह सब संगी कुछ ही दिन के, तुम चल रहे भरोसे जिनके।
समझ कर यह सभ्रम अज्ञान, न भूलो परमेश्वर का ध्यान।।
जग के वैभव बल जन धन में, रहना निरासक्त इस तन में।
छोड़ के इन सबका अभिमान, न भूलो परमेश्वर का ध्यान।।
केवल सर्वाधार यही है, सुन्दर सुखमय सार यही है।
जो कि अति सूक्ष्म अतुल महान, न भूलो परमेश्वर का ध्यान।।
ममता देह गेह की तजकर आ जाओ सतपथ में भर कर।
पथिक जो तुम चाहो कल्यान, न भूलो परमेश्वर का ध्यान।।

———

ज्ञान में अज्ञान को देखो

शान्त होकर ठहर कर देखो कि माना क्या है? जाना क्या है? तुम्हें ज्ञान का अभिमान ज्ञान से विमुख बनाता है।

हम शरीर के जन्म लेने के पश्चात जो कुछ सुनते गए जो कुछ देखते गए, जिसे भी मानते गए वही हमारा ज्ञान बन गया। अहंकार इस माने हुए को जानकर तृप्त होता रहा दूसरों को अपने ज्ञान के अनुसार शिक्षा देता रहा।

हमें सावधान किया गया है कि तुम इस प्रकार की मान्यता को ज्ञान समझ कर गर्व मत करो। तुम अपने अज्ञान को जानो।

तुम अपने चारों ओर उन वृद्ध माता पिता को देखो जिन्होंने लम्बी आयु बिता दी परन्तु अपने अज्ञान से परिचित न हो सके। अस्सी नब्बे वर्ष जीने के बाद अब वह मृत्यु की चिन्ता से भयातुर चिन्तित हैं। उनका भय यह सिद्ध कर रहा है कि उन्हें जीवन का अभी तक ज्ञान नहीं है, उन्होंने मृत्यु को अभी तक नहीं जाना है। क्योंकि जीवन को जान लेने पर मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। जिस देह में अस्सी साल तक रहे उस देह से परिचित न हो पाये देह का ही यथार्थ ज्ञान न हो सका। कोई मनुष्य अस्सी वर्ष जिस भवन में रहे, उस भवन को न जाने तब वह ज्ञानी नहीं कहा जायेगा।

हमें समझाया गया कि स्वास को आते जाते वर्षों बीत गए लेकिन ठहर कर दस मिनट भी स्वास की गति को ध्यान से न देखा होगा। अब से देखो और तैयार रहो, उस स्वास के लिये जो बाहर जाकर लौटेगी नहीं। इस

प्रकार देह से प्राण की गति का सम्बन्ध विच्छेद ही तो मृत्यु है जीवन की मृत्यु होती ही नहीं तुम निरन्तर जीवन से पूर्ण हो, तुम आत्मा परमात्मा से पूर्ण हो तुम्हारे चारों ओर ऊपर नीचे वही है परन्तु जब तक अज्ञान में हो तब तक तुम ग्रन्थों, पन्थों, सन्तों के द्वारा जीवन को सत्य को परमात्मा को खोजते रहते हो। तुम्हें ग्रन्थों, पन्थों सन्तों से बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त हुआ है लेकिन ठहरकर ध्यान से देखो कि किसी के द्वारा तुम्हारा अज्ञान भी प्रगट हुआ है? तुम उस संयोग को धन्य समझो जब तुम्हें अपने ज्ञान की जानकारी प्राप्त हो जाये।

यह समझ लेने की बात है कि जो कुछ तुम वाल्यकाल से दूसरों से सुन सुनकर बोलते हो वह मन में मानी हुई बातें हैं। जो कुछ भी तुम मानते हो उसे बुद्धि द्वारा विवेकीजनों के संगति में ठहर कर जान लो, लेकिन इस प्रकार की जानकारी को ज्ञान मानने की भूल अब न करो।

ठहर कर देखो! जिस वस्तु को व्यक्ति को तुम अपनी मान लेते हो उसीमय अहंकार बन जाता है।

किसी में धन का अहंकार है, किसी में बल का अहंकार है, किसी में विद्या का तथा पदाधिकार का अहंकार है। अनेकों प्रकार के अहंकारों में ज्ञान का अहंकार सबसे अधिक होता है। धन का अहंकारी धन न रहने पर दीन बन जाता है इस प्रकार बल के तथा रूप के एवं पदाधिकार के अहंकारी सदा नहीं अकड़े रहते हैं लेकिन ज्ञान का अहंकार सदा बना रहता है।

एक महात्मा ने बताया है कि ज्ञान का अहंकार बहुत ही सुलभ है लेकिन अहंकार को ज्ञान में देखना दुर्लभ है।

उपनिषदों के ऋषि घोषित करते हैं कि जो ज्ञानी कहता है कि मैं जानता हूं उसे समझ लेना वह अन्धकार में कुछ पकड़े हुए अकड़ रहा है वह ठहर का ज्ञान में अपने को नहीं देख सका है।

हमें समझाया गया है––न जानने का बोध ज्ञान की गुरुता का सर्वोपरि सम्मान है, परमात्मा के प्रति समर्पण है। दृष्टि खुलने का परिचय है। जो आदि अन्त से हीन विस्तार है उसे ही ब्रह्म कहते हैं उसे कोई कैसे जान सकता है?

यह गुरु निर्देश है, तुम ठहर कर देह के नाखून को देखो, किसी बड़े वृक्ष के पत्ते की नोक को देखो, किसी पुष्प को देखो, केवल देखो आंखों से मन से बुद्धि से स्थिर होकर देखो, तब यह देखना तुम्हें अदृश्य जीवन के दर्शन का द्वार बन जायेगा।

यह भी सन्त निर्णय है कि जो तुम्हें अभी तक दिखाई देता है वह बहुत ही कम है, जो नहीं दीखता है वह तो अनन्त है। जो तुम्हें सुनाई देता है बहुत ही थोड़ी दूर की ध्वनि है किन्तु जिसे तुम स्पर्श कर रहे हो वह तो बहुत ही सीमित है जिसे नहीं छू पा रहे हो उसका अनन्त विस्तार है।

सन्त निर्णय है कि तुम बाहर के देखते रहने में अथवा बाहरी चर्चा सुनते रहने में, बाहर कुछ प्राप्त करने में लाखों वर्ष बिता दो तब भी अन्त न होगा, इसीलिये भीतर की ओर लौटकर अन्तर यात्रा होने दो। बाहर की यात्रा सुख के लिए होती है अन्तर की यात्रा स्वयं तक होती है। ध्यान द्वारा स्वयं की चेतना में बुद्धि का स्थिर होना, परमात्मा की अनुभूति का द्वार पा जाना है। स्वयं अनुभूति न होने पर अपने शुद्ध अस्तित्व की विस्मृति ही अज्ञान है।

यह गुरु सम्मति है कि तुम अहंकार के श्रोत को खोज लो, वहीं तो आत्मा है, तुम वहीं हो, अभी हो यहीं हो।

प्रत्येक मनुष्य शरीर से जन्म लेते ही जो आंखों से देखता है तथा जो कानों से शब्द सुनता है वह मन में भर जाता है, वैसा ही बोलने लग जाता है।

हमारा मानना बाल्यकाल से ही आरम्भ हुआ था। मन से हम मानते हैं बुद्धि द्वारा उसे ही हम जानते हैं। हमारे समस्त कर्म हमारी स्वीकृति अथवा जानकारी के आधार पर बनते है––यही हमारा ग्रहण है।

हमारे आगे पीछे हमसे कम जानने वाले होते हैं और हमसे अधिक भी जानने वाले होते हैं। हमारी सफलता या असफलता परस्पर न्यूनाधिक जानकारी पर ही निर्भर रहती है।

जो हमसे कम जानता है उसी के आगे हम ज्ञानी बन जाते हैं और जो अधिक जानता है उसके सामने अज्ञानी बन जाते हैं। इसीलिये कभी दीनता और कभी अभिमान से हम डोलते ही रहते हैं। हमारी जानकारी जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे हम अपनी अनुकूलतायें सुविधायें बढ़ाते हुए सुखी रहते हैं परन्तु जहां कहीं से जानकारी का भोग होने लगता है वहीं से जानकारी सीमित हो जाने से हमारा सुख भी सीमित हो जाता है।

ज्ञान में देखने वालों के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि जब तक सुख और सुखियों के मध्य में रहते हुए हम दुखी होते हैं अशान्त होते हैं, भयातुर चिन्तित होते हैं तब तक अज्ञान में हैं।

हमने सदा सुखी रहने के लिये परिवार का सहारा लिया है परन्तु परिवार के साथ रहते हुए हम दुखी हो जाते हैं। सुखी रहने के लिये हमने धन का आश्रय लिया लेकिन हमें दीखने लगा कि हमसे अधिक धनी भी दुखी होते रहते हैं।

प्रायः हम जिस वस्तु अथवा व्यक्ति अथवा पदाधिकार के न होने से अपने को दुखी मानते हैं वहीं सब कुछ जिसे प्राप्त है वह भी हमारी भांति किसी न किसी प्रकार की कमी से अथवा प्रतिता से कुलचिन्तित है, भयातुर है, दुखी हैं। ज्ञात हुआ कि हमारे समस्त दुखों का मूल कारण अज्ञान है।

प्रभु कृपा में ज्ञान में देखने वाले महापुरुष मिले उनसे पूछा अज्ञान क्या है? उन्होंने आरम्भ में छोटा सा उत्तर दे दिया कि अपने को न जानना और सुनकर मानते रहना अज्ञान है। ज्ञान में न देखना ही अज्ञान है।

प्रायः ठहर कर देखने में आता है कि हम लोग कभी नास्तिकता से अहंकार को भरे हुए थे और अब आस्तिकता से अहंकार को भरे हुए है यदि अपना दर्शन करने में ठहर जायें तो इन दोनों से भरे अहंकार से मुक्ति पा सकते हैं।

एक सन्त समझा रहे थे बड़े बड़े विद्वानों को––अपने को ज्ञानी मानने वालों! ठहरो और देखो! तुम्हें ज्ञानी होने का घोर भ्रम है। तुम्हारा अज्ञान सत्य है लेकिन यह ज्ञान असत्य है।

पाण्डित्य से अकड़ा हुआ अहंकार अपनी पाप कृति को नहीं देख पाता। जीवन के अज्ञात सत्य को पाण्डित्य का अभिमानी नहीं देख पाता।

सन्त ने समझाया है कि जहां से तुम्हारा जानना रुक जाता है जहां तुम्हारे विचार ठहर जाते हैं जहां तुम्हारी समझदारी टूट जाती है जहां तुम अपनी बुद्धि से निराश होकर मौन शान्त रह जाते हो कोई उपाय नहीं दीखता है वही ज्ञानलोक तुम्हारी दृष्टि सत्यदर्शन की दिशा दिखा देता है। तुम जितना अपने अज्ञान को जानते जाओगे उतना ही ज्ञान में दर्शन का अधिकार सुलभ होता जायेगा।

अपने लिये तुम उसे ही तीर्थ समझो उसे ही धार्मिक स्थान समझो, उसे ही सत्संग स्थल कहो, उसी पर श्रद्धा करो जहां पर तुम्हारा अज्ञान प्रगट हो जाता है, जहां पर ज्ञान का अहंकार दीखने लगता है।

जिस प्रकार यह पृथ्वी, यात्री को समुद्र की अगाध गहराइयों में ले जाती है और हिमालय की अगोचर ऊँचाइयों में पहुंचा देती है उसी प्रकार ठहर के देखने वाले को एक पुरुष परमात्मा तक ले जाती है। कोई रूप या कोई संगीत का स्वर, कोई भी दृश्य अदृश्य परमात्मा की झांकी बन जाता है।

'अहं' के 'मै' के जितने सम्बन्धित रूप हैं वे सब मृत्यु में ले जाते हैं इसीलिये अहंकार को मरणधर्मा कहा गया है।

जो साधक ज्ञान विज्ञान से तृप्त है वह अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति में सम शान्त रहता है। अज्ञानी संसार से तृप्त होने के लिये संसार की दिशा में अति व्यस्त है, त्रस्त है।

तुम शत्रु में मित्र में एक समान परमात्मा को देखो। जिस प्रकार भूकम्प आने पर भवन हिल जाते हैं और गिर भी जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य सुख दुःख के भूकम्पों से हिल जाता है, पतित हो जाता है।

सुखासक्ति तो मनुष्य से सभी तरह के पाप करा लेती है। आसक्ति के रहते शास्त्र ज्ञान, भगवान का ध्यान भी मुक्त भक्त नहीं बना पाता। सुखासक्त व्यक्ति सेवा भी नहीं कर पाता।

एक पुत्र अपने पिता के कहे अनुसार परिचितों से कहता था कि मेरे घर में खजाना है लेकिन बता नहीं पाता था कि कहां है। इसी प्रकार अनेकों विद्वान आत्मा के होने की चर्चा करते रहते हैं परन्तु आत्मा को जानते नहीं हैं। क्योंकि जानने की साधना से विमुख हैं।

तुम सुखासक्ति से मुक्त होने पर ही दुख से मुक्त हो सकोगे। दुख से मुक्त होने पर ही आनन्द से तृप्त हो सकोगे। गुरु कृपा में सुलभ ज्ञान और निष्काम सेवा से सुखासक्ति मिटेगी।

दुख के कारण मनुष्य भूल में, भ्रान्ति में नहीं है बल्कि सुखासक्ति के कारण है। सुखासक्ति तभी छूटती है जब प्रेम में होकर प्राप्त सुख दूसरों को बांटा जाता है। इसीलिये तुम सम्बन्धित प्राणियों को सुखी रखने के लिये सेवा करते रहो।

जो कुछ भी अपने आपसे मिला है उसे अपना न मानकर स्वयं ज्ञान में ही अभिन्न अखण्ड सत परमात्मा का अनुभव करते हुए शान्त रहना आनन्द में रहना ज्ञान है। ज्ञान ही आत्मा है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है। इस ज्ञान यज्ञ की सर्वोपरि महिमा है। भगवान ने कहा है––जितने यज्ञ हैं वह द्रव्यमय हैं उनमें से ज्ञान यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। समस्त कर्म हे अर्जुन! ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। (गीता 4–33)

अनेकों प्रकार के यज्ञों में द्रव्य की अपेक्षा रहती है। ज्ञान यज्ञ में कुछ करने की आवश्यकता नहीं, केवल ज्ञान रूपी आलोक में जो जहां कहीं जैसा है, वैसा ही देखने की आवश्यकता होती है। इसीलिये कहते हैं कि ज्ञान में सब कर्म समाप्त हो जाते हैं।

ज्ञान में देख लिया कि अखण्ड अनन्त पूर्ण सत परमात्मा ब्रह्म नित्य अभिन्न है, प्राप्त ही है तब उसे पाने के लिये कुछ करना ही नहीं है और जब ज्ञान में देख लिया कि जगत में जो प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, असत है, तब उसे छोड़ने के लिये कुछ करना ही नहीं है, सब छुटा ही है। कुछ प्राप्त ही नहीं है––ऐसा देखने वाला कुछ करता ही नहीं, इसीलिये कहा है कि ज्ञान में सब कर्म समाप्त हो जाते हैं।

गीता में 13 प्रकार के यज्ञों का वर्णन है, सभी यज्ञों में कर्म की अपेक्षा रहती है किन्तु ज्ञान यज्ञ में कर्म समाप्त हो जाते हैं, केवल दृष्टा ही शेष रहता है।

ज्ञान में सर्व कर्म समाप्त हो जाते हैं ऐसा कहा है, छोड़ दिये जाते हैं ऐसा नहीं कहा। ज्ञान में देखने पर कर्ता रह ही नहीं जाता, सब प्रकृति में होता हुआ दिखता है–यही ज्ञान से मोक्ष पाता है।

ऐसे ज्ञान में दृष्टि खोलने के लिये गीता में ज्ञान प्राप्त महात्मा की शरण एवं विनम्रता पूर्वक सेवा और प्रश्न करने की सम्मति दी गई है।

ज्ञान का अभिमानी अहंकार, विनम्र नहीं हो पाता। जिसे ज्ञान की अपूर्णता का दुख है अर्थात अज्ञान का दुख है, वही ज्ञान की प्यास लेकर,

ज्ञान प्राप्त तत्वदर्शी की शरण लेता है। वेदों में जो तत्वदर्शी ज्ञानी हैं उन्हें ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कहा है।

ज्ञान में देखने पर वस्तु का लोभ, पद का अभिमान, संयोग से प्रतीत होने वाले सुख की कामना तथा जगत में अपना मानने का मोह नहीं रह जाता। जहां तक लोभ अभिमान काम अथवा मोह है वहां तक उस ज्ञान में दृष्टि नहीं खुली जिससे मोह मिट जाता है, भले ही अपने को वेद शास्त्र का पंडित ज्ञानी मानते रहे परन्तु हम ज्ञान में देखते ही नहीं है।

गीता के मत से तो जो ज्ञान रूपी नौका में बैठा है वह पापों के समुद्र को तर जाता है। (गीता 4–36)। श्रुति में भी कहा है "तरति शोकमात्मावित"––आत्मावेत्ता शोक को तर जाता है।

जिस प्रकार अग्नि से ईधन जल जाता है वैसे ही ज्ञानाग्नि से कर्म जल जाते हैं। (गीता 4–37)

निःसन्देह इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र कोई और नहीं है (ध्यान योग से) सिद्ध पुरुष समय पर उसे स्वयं अपने में ही पा लेता है। (क्योंकि वह आता नहीं। है ही) (गीता 4–38) जिस प्रकार प्रकाश में आंख खुलते ही दिखने लगता है उसी प्रकार ध्यान योग से प्रज्ञा के खुलते ही ज्ञान में दर्शन होने लगता है।

जिसमें श्रद्धा नहीं है, साधना में तत्परता नहीं है और जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं वह ज्ञान से विमुख ही रहता है। श्रद्धालु तो बहुत लोग दीखते हैं परन्तु मन की पूर्ति का पक्ष लेते हुए मन मुखी सेवा करते हैं। इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते।

नित्य निरन्तर अखण्ड ज्ञान में जिस प्रज्ञा रूपी दृष्टि से दर्शन होता है वह प्रज्ञा उसी साधक में खुलती है जो समस्त मनोरथों को त्याग कर अपने आप में अर्थात आत्मा में ठहर कर जो सन्तुष्ट रहता है, प्रसन्न रहता है, उसे ही स्थित प्रज्ञ कहते हैं।

जो दुखद परिस्थित से दुखी नहीं होता और सुखों की इच्छा नहीं करता, जो राग भय तथा क्रोध से रहित मननशील मुनि होता है वह स्थित प्रज्ञ है। (गीता 2/55–56)

जिसे किसी से स्नेह नहीं होता, जो शुभ की प्राप्ति से प्रसन्न नहीं होता, अशुभ से अधीर दुखी नहीं होता वही स्थित प्रज्ञ है अर्थात उसकी बुद्धि स्थिर है। (गीता 2/57)

बुद्धि के स्थिर होने पर जब उसका बोध होता है जो बुद्धि का प्रकाशक, नित्य सत्य आत्मा है, जो स्वयं सुख स्वरूप ही है, तब पुरुष उन समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है, जिन कामनाओं की पूर्ति में क्षणिक सुख की प्रतीति होती है।

जो कामनाओं को त्याग कर इच्छा ममता, अहंकार से रहित होता है वही शान्ति को पाता है। (गीता 2/71)

भगवान कहते हैं––यही ब्राह्मी स्थिति है, इसे पाकर फिर मोह नहीं होता अर्थात फिर अपने निज स्वरूप को वह नहीं भूलता। अन्त काल में भी यह स्थिति प्राप्त हो जाये तो ब्रह्म निर्वाण अर्थात मोक्ष को प्राप्त होता है। (गीता 2/72)

मोक्ष की स्वतन्त्रता की आवश्यकता तो सभी को है। तुम यदि मोक्ष चाहते हो तो ठहर कर देखो कि बन्धन मन से मान लिया गया है, अन्ध अहंकार बन्धन में है वही मुक्ति का सुख भोगना चाहता है। तुम्हारी चेतना निर्दोष है। लाखों जन्मों बाद यह अहंकार रूपी फल दिखाई देता है यही बढ़ता है, पकता है, रसयुक्त होकर फूटता है इसके भीतर अमृत मिलता है, तुम ठहरो और देखो। देखते देखते तुम सम्यक ज्ञान को प्राप्त हो सकोगे।

बौद्धिक जानकारी को ज्ञान मान लेते हैं जो ग्रन्थों के पढ़ने सुनने से हो जाता है परन्तु जिस ज्ञान से बन्धनों से मुक्ति और दुखों की पूर्ण निवृत्ति होती है वह ज्ञान कहीं से आना नहीं है, वह है ही। वह ज्ञान, समताभाव से तथा निष्काम रहकर, कर्मों का कर्ता न बनकर अन्तःकरण पवित्र होने पर जब अपने आप में पुरुष शान्त स्वरूप होता है तब ज्ञान स्वरूप आत्मा अनावृत होता है। उस ज्ञान को केवल देखना ही मुक्ति भक्ति पा लेना है।

जिस प्रकार सूर्य के या किसी प्रकार के प्रकाश में नेत्रों द्वारा वाह्य वस्तु देखी जाती है उसी प्रकार ज्ञान रूपी प्रकाश में सत् असत्, जड़ चेतन, विनाशी अविनाशी, जीवन मृत्यु, विषय या अमृत का भेद विदित होता है।

जिस प्रकार अन्धकार में हम किसी वस्तु को पकड़ सकते है लेकिन देख नहीं पाते उसी प्रकार अज्ञान में हम देहादिक जड़ वस्तुओं को अपनी मान लेते हैं अर्थात मन से पकड़ लेते हैं किन्तु ज्ञान रूपी प्रकाश में प्रज्ञा दृष्टि खुले बिना हम देख नहीं पाते।

विनाशी देहादिक वस्तुओं को अपनी मानकर मोही लोभी अभिमानी कामी बने रहना ही अज्ञान में पकड़े रहना है।

अज्ञाने नावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। (गीता 5/15)

अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है उसी से सारे जीव सम्मोहित होते हैं परन्तु आत्मा के ज्ञान से जिनका अज्ञान (अन्धकार) मिट गया है उनके समक्ष सूर्यवत ज्ञान (सब कुछ को) परम को प्रकाशता है। (गीता 5/16)

परमात्मा और जीवात्मा के बीच में जो अज्ञान है, जिससे बुद्धिरूपी दृष्टि देख नहीं पाती इसी अज्ञान को शास्त्रों में माया, अविद्या, प्रकृति प्रधान, अव्यक्त शक्ति इत्यादि नाम दिये गए हैं।

अज्ञान में ही अशान्ति है, विषमता है, बन्धन है, भोग है, दुःख है, जन्म है, मृत्यु है। ज्ञान में परमदेव का, परमात्मा का दर्शन है अर्थात अनुभूति है, ज्ञान में ही शाश्वत शान्ति है, समता है, मुक्ति है, नित्य योग है, आनन्द है, नित्य जीवन है, अमृतत्व की प्राप्ति है।

सन्त सद्गुरु ने हमें समझाया कि अभी अभी नेत्र बन्द करके कुछ न सोचो, कोई विचार न उठने दो किसी की याद न करो, कोई संकल्प न करो और केवल नेत्रों को बन्द रखकर अन्धेरे को देखो, इस अंधेरे को जिसके द्वारा देखा जा रहा है वही ज्ञान स्वरूप है वही आत्मा है, वही तुम हो, लेकिन इस ज्ञान में विनाशी जगत के नाम रूप भर गए हैं, इसीलिये ज्ञान, जगत के नाम रूप मय बन गया है।

जिनकी बुद्धि स्थिर है (जिनका मन कहीं अटका नहीं है), अर्थात जो मूढ़ नहीं है, अज्ञान रहित है ऐसे ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म में स्थिर रहते हैं।

जब तक बुद्धि विनाशी वस्तु व्यक्ति से सम्बन्धित है अर्थात् ज्ञान में आंखों के द्वारा रूप भर गए हैं, कानों के द्वारा शब्द भर गए हैं, रसना के

द्वारा स्वाद भर गए हैं नासिका त्वचा के द्वारा विविध गन्ध स्पर्श भर गए हैं मन के द्वारा प्रिय अप्रिय के प्रति राग द्वेष भर गया है तब तक ज्ञान जगत मय बना रहता है। तब तक ज्ञान वस्तु व्यक्ति मय, सुखमय, दुखमय, संयोगमय, वियोगमय, लाभमय, हानिमय, बना रहता है।

यह ज्ञान ही भावनाकार होकर पुत्रमय पितामय पति पत्नी मय बन जाता है। यह ज्ञान ही श्रद्धा भाव को लेकर गुरुमय होता है।

जब ज्ञान में भगवान भर जाते हैं तब ज्ञान ही भगवदाकार हो जाता है इस प्रकार जब ज्ञान में विनाशी नाम रूप माया झूठे दीखने लगते हैं और निरसन करते करते जब ज्ञान नाम रूप से शून्य रह जाता है तब ज्ञान ब्रह्ममय होकर अखण्ड अनन्त अनुभूत होता है। यह गुरु सन्देश है कि तुम्हें सत्य शान्ति आनन्द कुछ करके, कहीं जा के नहीं पाना है क्योंकि वह प्राप्त ही है, उसकी विस्मृति हो रही है।

मन में विराम आते ही शान्ति होती है, विराम में शान्ति में अनायास ज्ञान आलोकित होता है और आनन्द स्पष्ट हो जाता है।

जब तक सुखोपभोग से सन्मान की तृष्णा से तथा लाभ के लोभ से सम्बन्ध नहीं तोड़ोगे तब तक नित्य प्राप्त परमात्मा के योग का अनुभव नहीं कर सकोगे। सत्य ज्ञान से ही आत्म–विजय सुलभ हो सकती है। अज्ञान में जब तक तुम दूसरों से सुख शान्ति पाने की आशा करोगे तब तक तुम पराधीन और पराजित रहोगे।

जिस प्रकार दो भिखारी परस्पर एक दूसरे को भीख देकर सन्तुष्ट नहीं कर सकते उसी प्रकार तुम दूसरे को न सुख देकर सन्तुष्ट कर सकते हो

और न स्वयं दूसरे से सुख लेकर सन्तुष्ट हो सकते हो। कुछ देर के लिये सन्तुष्टि प्रतीत होगी परन्तु वह स्थाई न होगी।

सन्त कहते हैं कि जिसके ह्रदय में आनन्द खुल गया है वही दूसरों को भरपूर दे सकता है। आनन्दमय परमात्मा निरन्तर है परन्तु खोजने वालों की दृष्टि उस पर नहीं पड़ती।

यह गुरु निर्णय है कि तुम्हारी पराजय, तुम्हारा दुःख, तुम्हारे बन्धन, तुम्हारी चिन्तायें एवं अशान्ति और आनन्द की, परमात्मा की खोज तुम्हारे अज्ञान के ही कारण है। कदाचित तुम ठहरी हुई बुद्धि से ज्ञान में देख सको तो मृत्यु का चित्र केवल कल्पना है। मृत्यु से अधिक असत्य और क्या हो सकता है? फिर भी अज्ञान में मृत्यु सत्य प्रतीत होती है प्रायः मृत्यु से भयातुर सभी अज्ञानी मनुष्य धन का भवन का परिवार का, इनसे निराश होकर देवी देवता और भगवान का आश्रय लेते रहते हैं।

ज्ञान में जिसे तुम जान लेते हो उसके बन्धन से मुक्त हो जाते हो। अज्ञान में बिना जाने ही जिसे मानते रहते हो उसी से पराजित होते हो बंधे रहते हो। अज्ञान में तुम जीते हुए भी चिन्तित हो भयातुर हो लेकिन ज्ञान में मरते हुए भी जीवन का आलिंगन होता है अभय का वरदान प्राप्त होता है।

ज्ञानी, रोग आने पर देह पर व्यंग्य बोलते हुए हंसता है ज्ञान में कहीं हारने की आशंका ही नहीं होती क्योंकि संसार में कुछ जीतने योग्य दीखता ही नहीं जीतने की कामना ही नहीं रहती।

अब अज्ञान में तुम वियोग को हानि को अपमान को स्वीकार ही न करो अपितु जितने दिन संयोग तथा लाभ एवं सन्मान का सुख मिल गया उसके लिये धन्यवाद दो।

यह भी गुरु सम्मति है कि विनाशी वस्तुओं के साथ जहां पर देह भाव जाति भाव पति पुत्र पिता आदि सम्बन्ध भाव में तुम रहते हुए व्यवहार चला रहे हो वहीं पर ज्ञान में सावधान रहकर आत्मा हूं, मैं जड़ देह नहीं, चेतन स्वरूप हूं——इस भाव से रहने का स्वभाव बना लो। आत्म भाव से रहो।

ज्ञान में सजग रहकर तुम सर्वत्र सभी दृश्य पदार्थों में आत्मा की सत्ता को स्मरण करते रहो, बहुत ही सजग रहोगे तब हो सकेगा।

अज्ञान में रहना निद्रा है ज्ञान में देखना जागरण है। योगेश्वर भगवान का निर्णय है कि यदि तुम कामनाओं की पूर्ति के लिये अधीर रहोगे उनका त्याग नहीं कर पाते तब ज्ञान में नहीं देख सकोगे। यदि अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट नहीं हो तब तुम्हारा असन्तोष तुम्हारी बुद्धि को स्थिर नहीं होने देगा।

यदि तुम दुखों से उद्विग्न होते रहोगे सुख की चाह नहीं त्याग सकोगे तब तुम्हारी बुद्धि चंचल ही रहेगी ओर रागी द्वेषी बने ही रहोगे। ज्ञान में देखने के लिये बुद्धि की स्थिरता अनिवार्य है बुद्धि स्थिर होने के लिये शुभ को अनुकूल पाकर हर्ष से न उठली तभी प्रतिकूलता में शोक से बच सकोगे।

तुम अपनी इन्द्रियों को विषय पथ में न भागने दो। वृत्ति को अन्तर मुखी रक्खो और सदा आनन्दमय प्रेममय ज्ञानमय परमात्ममय का स्मरण रखते हुए प्रसन्न रहो।

हमें यह भी समझाया गया है कि जिस का अन्त होता है वह विनाशी है, जगत की वस्तु हूं और जिसका अन्त होता ही नहीं वही नित्य, निरन्तर अविनाशी दिव्य चेतन है।

सभी आकृतियां सभी रूप जिसके हैं वहां तो परमात्मा परमेश्वर है। तुम जहां लहरे देखते हो वहीं तो सागर विद्यमान है, तुम्हारी दृष्टि जब चंचल अस्थिर लहरों पर होती है तब भी उन चंचल लहरों के बीच प्रशान्त सागर है, अवश्य ही लहरें सागर नहीं है लेकिन लहरों में सागर तो है ही। इसी प्रकार तुम संसार की अनेकता के पीछे एक परमतत्व परमात्मा को जानो ज्ञान में देखो प्रेम में अभिन्नता एकता का अनुभव करो। तुम उससे भिन्न नहीं हो।

ज्ञान में तुम देखो कि समस्त दिव्यता परमात्मा ही की है। समस्त ज्ञान परमात्मा का ही है, समग्र प्रेम वहीं है। समग्र अस्तित्व के रूप में परमात्मा ही है।

जो चंचल होता है, विचलित होता है वह मन है लेकिन जो स्थिर है अविचलित है, वही नित्य शान्त चेतना है।

तुम किसी के विषय में निर्णय न करो, भला बुरा न कहो।

जिस प्रकार ऊपर चढ़ने की सीढ़ी में अनेकों डन्डे लगे हैं उस पर चढ़ने वाला अपनी समझ से सभी डन्डे मजबूत बनाता और जब ठीक समझ लेता है तभी चढ़ते हुए यदि कोई डन्डा टूट जाता है और वह नीचे गिर जाता है तो अज्ञानी जन गिरा हुआ देखकर घृणा करते हैं निन्दा करते हैं परन्तु वह उठता है और डन्डा कमजोर था उसी स्थान पर चढ़ जाता है लेकिन अज्ञानी जन उसके गिरने को देखते हुए उसके पतन की चर्चा करते

रहते हैं उसके उत्थान को नहीं देख पाते। ज्ञान में सम्यकदर्शी उसके पतनोत्थान को देखते हुए सदा शान्त समस्थित रहते हैं।

यदि तुम ज्ञान में देखने की दृष्टि प्राप्त कर चुके हो तब तो तुम्हें किसी चढ़ने वाले को गिरते देखकर अर्थात किसी त्यागी को रागी देखकर तथा किसी तपस्वी को भोगी देखकर उस पर करुणा आयेगी उसकी निन्दा नहीं करोगे उससे घृणा नहीं करोगे।

शान्ति आनन्द अथवा नित्य सत्य के अभिलाषी पथिक नाम रूप में प्रिय आत्मन्!

चलते चलते ठहरो और देखो! तुम किसी भी पथ में यात्रा करो इतना देख लो कि पथ में प्रकाश है या अन्धकार है।

आंखें वाह्य प्रकाश में वाह्य पथ को देखती है लेकिन जीवन यात्रा जिस पूर्णता की प्राप्त्यर्थ हो रही है उस पथ को वाह्य आंखों से नहीं देखा जा सकता। उस पथ को ज्ञान प्रकाश में देखा जाता है।

हमें सावधान किया गया है––परमार्थ पथ में भी अनकों पथिक अज्ञान अन्धकार में ही विश्वास को लेकर तथा अन्धश्रद्धा को लेकर चलते रहते हैं, तुम ठहरो और विचार विवेक के प्रकाश में देखकर निर्णय करो कि स्वयं कहां हो?

ज्ञान प्रकाश में ही तुम देख सकोगे कि स्वयं तुम विनाशी में हो या अविनाशी में हो, जड़ में या नित्य सच्चिदानन्द में हो, तुम स्वयं सत हो या झूठ हो।

जब तक तुम देह के साथ जीते हो, माता पिता पति पत्नी पुत्र आदि व्यक्तियों के साथ जीते हो, अथवा तुम धन वैभव भूमि पदाधिकार के साथ जीते हो तब तुम मृत्यु के भय से चिन्ता से दुःख से, जप पूजा पाठ करते हुए भी मुक्त नहीं हो सकते।

अहंकार का क्षेत्र विनाशी वस्तुओं का क्षेत्र है। अहंकार की परिधि में जीवन का बोध नहीं होता। अहंकार से मुक्त होने पर ही धार्मिक जीवन की पूर्णता होती है। अहंकार ही धर्म की पूर्णता में बाधक रहता है।

ठहरो और देखो! आत्मा को सत् को तुम खो नहीं सकते।

आत्मा स्वयं ही ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा हो, ज्ञान न हो——ऐसा हो ही नहीं सकता। जहां अज्ञान है वहां आत्मा नहीं है उसकी छाया है। ज्ञान निरन्तर है परन्तु प्रगट नहीं है। माचिश में आग है पर प्रगट होने पर ही दिखती है, इसी प्रकार ज्ञान का प्रगट होना ही आत्मा का होना दीखता है। आत्मा का ज्ञान ही परमात्मा के दर्शन का द्वार हो जाता है।

हमें समझाया गया है कि आत्मा परमात्मा का कभी वियोग होता ही नहीं केवल विस्मृति हो रही है और संसार से कभी नित्य योग होता ही नहीं केवल स्मृति में भर गया है।

ज्ञान में दर्शन करने वाले महापुरुष तो जीवात्मा परमात्मा के योगानुभव को ही परम लाभ जानते हैं और सांसारिक विनाशी वस्तुओं के संयोग–भोग में हानि देखते हैं।

अहंकार के साथ जीवात्मा, भोग जनित सुखों को ही लाभ मानता है। कदाचित पढ़ सुनकर महान हानि भी जानता है परन्तु अहंकार से छूट नहीं पाता है। परमात्मा की कृपा से ही छूटना सम्भव होता है। कृपा का अनुभव वही कर पाता है जो कृपा के लिये अत्यन्त दुःखी एवं प्रार्थी होता है।

ज्ञान में देखने से यह भी पता चल रहा है कि जितनी बनावट है, जितनी मान्यतायें हैं, स्वीकृतियां हैं सब व्यर्थ अनर्थ के हेतु हैं। अहंकार, नाम परिवर्तन करता है, वेष भूषा बदल लेता है, जाति परिवर्तन से बहुत ही प्रभावित होता है, हिन्दू मुसलमान हो जाये या मुसलमान हिन्दू हो जाये, गृहस्थ साधु सन्यासी बन जाये या सन्यासी गृहस्थ बन जाये तो बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। यह सारे परिवर्तन अहंकार की सीमा में चलते रहते हैं। भोगी अहंकार अति कठोर होता है। भक्ति से मधुर होता है।

ज्ञान में जो परिवर्तन होता है वह कल्याणकारी है। विनाशी वस्तुओं से मन हट जाये, कहीं भी ममता न रह जाये, फल की आशा छूट जाये, कहीं जाने का, कुछ पाने का या कुछ छोड़ने का संकल्प ही न रह जाये, यह परिवर्तन, यह रूपान्तर ज्ञान में देखने से होता है। यह परिवर्तन करना नहीं पड़ता स्वतः हो जाता है। ज्ञान स्वरूप आत्मा जब प्रकृति के गुणों के मध्य में होता है तब अहंकार है और जब प्रकृति की जड़ता से ऊपर देखा जाता है तब ज्ञान स्वरूप आत्मा है।

ज्ञान में देखने से सब कुछ स्वतः होता हुआ दीखता है। समस्त क्रियायें आत्मा की सत्ता के सकाश से राग द्वेष के बिना ही होती रहती हैं। प्रकृति में सारे कार्य चन्द्र सूर्य वायु अग्नि जल पृथ्वी आदि द्वारा राग द्वेष के बिना ही

होते रहते हैं। गर्मी सर्दी, वर्षा, अवर्षा, नदियों की बाढ़ तूफान, भूकम्प, राग द्वेष के बिना ही होते रहते हैं।

यह अहंकार ही अज्ञान में रागी द्वेषी बन जाता है। अहंकार में ही अपेक्षा फलेच्छा के कारण बन्धन का दुख रहा करता है।

ज्ञान में देखने पर जब किसी की अपेक्षा नहीं रहती, कोई फल की कामना नहीं रहती तब जो कर्म होता है उसमें शान्ति रहती है, आनन्द का द्वार खुल जाता है।

अज्ञान में अहंकार बहुत ही तुच्छ असार क्षणिक सुख को लेकर यात्रा करता है। ज्ञान में देखने पर ज्ञात हुआ कि यह अहंकार, मन की जितनी शक्ति का भोगी है उससे नौ गुना शक्ति मन में है। भोगी अहंकार को पता नहीं उसे तो आत्मयोगी ही ज्ञान में देखते हैं।

ज्ञान में शान्त होकर संकल्प रहित होकर विचार न करो अपितु जानो कि मैं परम आत्मा हूं। सन्त का आश्वासन है कि यदि तुम स्वयं को आत्मा को जान लो तो कोई अनिष्ट नहीं आ सकता। वास्तव में ज्ञानी का आत्मा ही सर्वस्व है उसी में सारा दृश्य अदृश्य जगत तरंगायित है।

संसार में महान शक्तियों एवं तथ्यों का विकास आत्मा की प्रशान्त गहराइयों में होता है।

यह गुरु सन्देश है कि तुम इस परम आत्मा की महिमा को न भूलो सदा स्मरण रक्खो।

मन को जगत की वस्तुओं में लगाये रहना पाप है। समस्त दुख सुख पाप की परिधि में है। जगत की वस्तुओं से आत्मीयता टूटते ही और परम आत्मा से नित्य योग की अनुभूति होते ही आनन्द प्राप्त होता है।

भगवान ने बताया है कि जिसका मन पाप रहित है अच्छी तरह शान्त है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है वही सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ एक होकर उत्तम सुख को प्राप्त होता है। (गीता 6/27)

मन को परमात्मा में लगाना पुण्य है। यह पुण्य बहुत ही सहज है इसमें धन की तथा श्रम की आवश्यकता नहीं, लेकिन इस पुण्य के लिये संकल्प ही नहीं होता और इस प्रकार के सहज महान पुण्य का सबको पता भी नहीं है। पढ़ने सुनने पर भी पाप की प्रबलता के कारण अर्थात जगत की वस्तुओं में मन लगा होने के कारण इस महान पुण्य के लिये प्रयत्न नहीं होता।

बुद्धि के द्वारा जितनी भी जहां तक जानकारी होती है उसका भोगी अहंकार ही होता है।

जानकारी का विस्तार जितना अधिक होता है उतने ही विस्तार में सुख और दुःख के भोग की सीमा होती है। जानकारी चाहे जितनी बढ़ती जाये फिर भी उसकी सीमा अवश्य ही रहेगी क्योंकि बुद्धि के भीतर अनन्त नहीं आ सकता।

जानकारी की सीमा, अखण्ड अनन्त ज्ञान में देखी जाती है। इसीलिये जो अध्ययन करते हुए बुद्धि से जितना अधिक जानता है उतने का भोगी होता है लेकिन जब ज्ञान में जानने की सीमा को देखता है तब भोग से प्रेम हटाकर योग में प्रेम होता है।

गृहस्थाश्रम में सभी मनुष्य भूमि भवन धन परिवार के संग से भोगी बनते हैं। गृहस्थाश्रम छोड़ने पर जब अपने को कोई त्यागी तपस्वी ज्ञानी ध्यानी जानता है तब त्याग तप आदि का भोगी बनता है। जहां तक भोग चलता है वहां तक अशान्ति से दुःख नहीं बच पाता।

हमें समझाया गया है कि दुःख को सुख से दबाना चाहते हो तो पुण्य बढ़ाओ और दुख को मिटाना चाहते हो तो ज्ञान में देखते हुए गुरु मन्त्रों का प्रयोग करो।

हमें समझाया गया है––जब तुम मिली हुई देह को सम्पत्ति को किसी प्रकार की शक्ति को अपनी न मानकर दाता प्रभु की जानने के अभ्यासी हो जाओगे तभी मोह लोभ अभिमान से मुक्ति मिलेगी। यदि अज्ञानवश संसार की वस्तुओं को तथा सम्बन्धित जनों को प्रीति पूर्वक अपना मानते रहोगे तब तो चाहे जितने विद्वान बन जाओ, शक्ति सम्पत्ति शाली एवं पदाधिकारी बन जाओ, तीर्थों में रहने लगो, साधु महात्मा महन्त ज्ञानी ध्यानी शिष्य गुरु बन जाओ, यदि ममता लोभ अभिमान आसक्ति आदि दोष नहीं मिटेंगे, तब तो दुख भी नहीं मिटेंगे, अशान्ति होती रहेगी, और शान्ति की खोज में तुम इधर उधर भागते ही रहोगे, और शान्ति की कल्पना भी करोगे परन्तु किसी के द्वारा किसी स्थान में बाहर शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी क्योंकि शान्ति तो नित्य शाश्वत आत्मा के साथ है, वह कहीं गई नहीं है इसलिये कहीं मिलेगी भी नहीं।

तुम जिस संयोग को पाकर अति हर्षित हो रहे हो, जिस लाभ को देखकर, जिस पद में प्रतिष्ठित होकर अपने को धन्य मान रहे हो उसी संयोग

को भोगते हुए उसी लाभ के भोगी एवं पदाधिकार के अभिमानी जनों को देखो! वह वृद्धावस्था में वाह वाह कह रहे हैं या हाय हाय चिल्ला रहे हैं?

आरम्भ में वह सभी भोगी तुम्हारी ही तरह अपने सौभाग्य से गर्वित हो रहे थे, उनकी अन्तिम मनःस्थिति का निरीक्षण करो।

जिस प्रकार गर्मी के मौसम में हिमालय प्रदेश का यात्री सर्दी के कपड़े बांधता है, भले ही बालक नहीं समझ पाता परन्तु दूरदर्शी विद्वान जानता है कि चाहे जितनी यहां गर्मी हो परन्तु पहाड़ों की ऊंचाई में घोर सर्दी होगी उसकी तैयारी पहले से करता है उसी प्रकार दूरदर्शी बुद्धि के द्वारा तुम संयोग में ही आगे आने वाले वियोग के दुख से बचने की तैयारी करो। प्रारब्धवश लाभ के मध्य अचानक होने वाली हानि के दुख से बचने का उपाय सोच लो इसी प्रकार युवावस्था के आरम्भ से ही वृद्धावस्था के कर्तव्य का निर्णय कर लो।

तुम प्रत्येक सुख के पीछे रहने वाले दुख को सुखी दशा में ही देखते रहो और जब कभी सुख का पहलू पलटे, दुख आये तभी सुखासक्ति के त्याग के लिये सावधान रहो।

किसी पक्षी को बाज या बिल्ली पकड़ना चाहे और वह पक्षी अपने पकड़ने वाले शत्रु की चर्चा सुनना अशुभ मानकर सुने ही नहीं वह अपने शत्रु को देखना भी नहीं चाहे आंख फेर ले तो क्या वह पक्षी कुशल बचेगा? कदापि नहीं इसी प्रकार तुम प्रिय वियोग की, अर्थात् पति पत्नी माता पिता आदि के वियोग की बात सुनना अशुभ मानकर सुनो ही नहीं, उस पर विचार करो नहीं, तो क्या वियोग से मृत्यु से बच सकोगे, कदापि नहीं।

यह भगवान का निर्णय है :–

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति को और पुरुष को तत्व से जो जानता है वही ज्ञान है।

लाखों करोड़ों मनुष्य अपने को पुत्र पिता पति, तथा ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र एवं धनी निर्बल, बलवान या दुर्बल ऊँच या नीच दुखी या सुखी मूर्ख या विद्वान, गृही या सन्यासी, पापी या पुण्यवान मानते रहते हैं लेकिन ज्ञान में यथार्थ स्वरूप को, स्वयं को जानते नहीं हैं।

इसी प्रकार के मूढ़ व्यक्तियों के लिये भगवान का निर्णय हैः–

सर्व ज्ञान विमूढ़ान्तान्विद्धि नष्टान चेतसः (गीता 3/32)

जो दोष दृष्टि वाले मूढ़ लोग मेरे इस मतानुसार नहीं बर्तते उन सम्पूर्ण ज्ञानों से मोहित चित्त वालों को कल्याण से भ्रष्ट ही समझना।

यह शरीर ही क्षेत्र और जीवात्मा ही क्षेत्र का मालिक है जो मिले हुए शरीर रूपी क्षेत्र में अपने को तत्वतः जान लेना ही ज्ञान है और न जानना ही अपना अज्ञान है। अविवेकी मोही लोभी कामी ही मूढ़ हैं जिनका मन, तन धन परिवार आदि में ही अटक गया है वे स्वयं को नहीं जान पाते, वही मूढ़ हैं। तुम शान्त होकर ठहरो और अपने को देखो।

भगवान का निर्णय है :–

विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः (गीता 9/10)

दर्शन करने योग्य जो कुछ भी सत्य है उसे विमूढ़ व्यक्ति अज्ञानवश नहीं जानते, नहीं देख पाते। केवल वही देख पाते हैं जिनके ज्ञान रूप चक्षु खुले हैं।

यो मामेव संमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम्। (गीता 15/19)

जो मूढ़ता से रहित है, वही ज्ञान प्रकाश में पुरुषोत्तम तत्व को जानता देखता है।

प्रकृते र्गुण संमूढ़ाः संजन्ते गुण कर्म सु। (गीता)

प्रकृति के गुणों में सम्मोहित हुए पुरुष, गुण और कर्मों में आसक्त रहते हैं।

भगवान का निर्णय है कि दर्शन की दृष्टि न खुलने पर मूढ़ लोग विनाशी नाम रूप में ही आसक्त रहकर सत परमात्मा के प्रति प्रेम नहीं लौटा पाते इसीलिये दोषी और दुखी बने रहते हैं।

सन्त ने हमें सावधान किया है कि——अपने सम्बन्धियों के द्वारा सुन सुन कर जो कुछ मन से तुम मानते हो उसे ही बुद्धि से विचार पूर्वक जानो। माने हुए को यथार्थ रूप में जान लेना ही सम्यक दर्शन का द्वार पा जाना है।

कोई भी बालक बटन दबाकर बिजली जला लेता है वह मानता है बिजली जलाना मैं जानता हूं लेकिन बिजली के विषय में कुछ नहीं जानता है जब किसी जानकार के द्वारा, (विद्युत शक्ति कैसे बनती है, कहां से आती है,—यह समझ लेने पर) जानता है और जब कभी विद्युत प्रगट होने के स्थान पर जाकर देखता है तब उसे दर्शन होता है।

कोई भी बालक नल की टोटी खोलकर पानी गिरते देखकर मान लेता है पानी, टोंटी से ही गिर रहा है, फिर उसे ही कभी जानता है कि पानी कहीं और ही स्थान से आता है और उसे ही कभी जाकर देखता है तब यथार्थ ज्ञान होता है।

हम लोग आंखों से हजारों वृक्षों को देखते हैं लेकिन वृक्ष की अदृश्य जड़ों के द्वारा आने वाले अथवा क्षण क्षण प्रवाहित जीवन की गति का दर्शन नेत्रों से नहीं कर पाते।

यह भी सन्देश है कि——जिस किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को तुम सुन्दर मानते हो वह सदा रहने वाली नहीं है लेकिन सौन्दर्य तो संसार में चमकता ही रहेगा। बाती जल जाने के साथ दीपक बुझ जायगा लेकिन पुनः दीपक जलते ही रहेंगे, नई बाती बनती ही रहेगी। सौन्दर्य प्रवाह संसार में बहता ही रहेगा।

अज्ञान अन्धकार में भटकते रहने तक सभी मनुष्य झूठ को ही सत्य मानते रहते हैं इसलिये जो सत्य है, सदा रहने वाला है, जो निरन्तर प्राप्त ही है उसे नहीं जान पाते।

भगवान का निर्णय है कि सुख दुःख आने जाने वाले हैं। इन्हें धैर्य से देखो। जो कुछ भी तुम्हें प्रतीत होता है वह पहले नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा। सुख दुःख में सम रहने वाले धीर पुरुष मोक्ष के अधिकारी होते हैं। (गीता 2/15)

जो पहले नहीं था, जो अब है वह आगे भी नहीं रहेगा। जो दुःख पहले नहीं था वह जब कभी भोगने में देखने में आता है, वह आगे भी नहीं रहेगा।

जो संयोग तथा जो लाभ एवं जो पदाधिकार जो सन्मान पहले नहीं थे, अब प्रतीत हो रहे हैं, उनसे सावधान रहो वह आगे नहीं रहेंगे।

यह गुरु निर्णय है कि जो कुछ भी तुम्हारे सामने आये उसे सजग रहकर देखते रहो कि किसी समय भी जा सकता है। कुछ भी सदा नहीं रहेगा इस सत्य को स्मरण रक्खो।

जिन आंखों से सूर्योदय देखकर तुम हर्षित होते हो उन्हीं आंखों से सूर्यास्त देखकर तुम्हें शोकित होना पड़ेगा। जिन आंखों से प्रकाश में दीखता है उन्हीं आंखों के आगे अन्धकार छा जायेगा। इसीलिये बाहरी आंखों से ही देखकर सन्तुष्ट न रहो।

एक ऐसा भी स्थान है, जिसे आनन्द मय कोष कहते हैं। एक ऐसी दृष्टि है जिसे ज्ञान चक्षु कहते हैं, वहां से देखने पर ज्ञान रूपी सूर्य का न तो उदय होता है न अस्त ही होता है। वहां प्रकाश आता नहीं सदा ही रहता है। तुम सजग होकर उस आत्मा को जानो और ज्ञान चक्षु से देखने के अभ्यासी हो जाओ।

जिसे तुम चाहते हो वही सुखदायी प्रतीत होता है, जितने समय तक चाहते हो उतने ही समय तक सुखद दीखता है, जिसे नहीं चाहते हो वही दुखदायी हो जाता है। इसीलिये किसी को सुखदाता या दुखदाता मानकर रागी या द्वेषी न बनो क्योंकि राग के कारण असक्ति ममता मोह लोभ आदि दोष प्रबल होते हैं और द्वेष के कारण ही ईर्ष्या घृणा कलह क्रोध निन्दा हिंसा आदि पाप बनते हैं।

तुम्हें उसी की चाह होती है जो तुम्हारी प्रीति में भर जाता है। जो प्रीति में भर जाता है वह सदा नहीं रहता इसीलिये वियोग का अथवा सम्बन्ध विच्छेद का दुःख भोगना पड़ता है। प्रीति में भरी हुई वस्तु व्यक्ति तो नहीं रहती परन्तु प्रीति तुम्हारे हृदय की निधि है वह सदा रहती है।

जिस प्रकार मोही व्यक्ति को छोटे से परिवार के लोग अपने प्रतीत होते हैं, उन्हीं के साथ रहने में मोही सुख मानता है, उसी ज्ञानवान को आत्मा का अनुभव होने पर सभी अपने दीखने लगते हैं, तभी ज्ञानवान, भेद भाव रहित होकर निरन्तर शान्त रहता है, भय रहित हो जाता है क्योंकि उसे कोई पराया नहीं दीखता।

ज्ञान में एक ओर सब कुछ स्वप्नवत दीखता है और एक स्थान से कोई भी अन्य नहीं दीखता है।

स्थिर बुद्धि रसम्मूढ़ो ब्रह्म चिद ब्रह्मणि स्थितः (ध्यान वि0 उप0)

स्थिर बुद्धि वाला मूढ़ता रहित होकर सर्व भूतों में परमात्मा ही व्याप्त है——ऐसा जानकर ब्रह्म में ही स्थिर रहता है। बहुत ही वीर धीर साधक ऐसी संसिद्धि प्राप्त करता है।

जब तक मनुष्य अपने साथ रहने वाले अन्तर पशु को नहीं जीत लेता तब तक कुत्ते गधे शूकर बन्दर बकरे आदि पशुओं की भांति नित्य खाने सोने भोगने खेलने में ही सुख मानता रहता है। उसे मौज और मजा के पीछे सजा नहीं दीखती है।

महात्मा का निर्णय है :– अन्तःकरण में स्थित साक्षी रूप परमात्मा को कोई प्राणी इन्द्रिय मन प्राण आदि किसी भी साधन द्वारा नहीं जान सकता (भागवत)।

परमात्मा के मन्दिर का द्वार स्वयं के भीतर से खुलता है। जब आनन्द एवं शान्ति परमात्मा अपने में ही हैं तब अपने ही परमात्मा की शरण लेना चाहिये अन्य की ओर न भागना चाहिये। स्वयं की आत्यन्तिक सत्ता ही तो परमात्मा है।

यह भी सन्त की चेतावनी है कि तुम उसकी शिकायत न करो जो नहीं मिला है, तुम उसके लिये शोक न करो जो छूट गया है प्रत्युत उसके लिये दाता प्रभु का धन्यवाद दो जो तुम्हारे साथ है और तैयार रहो क्योंकि जो अभी है वह भी कभी नहीं रहेगा।

तुम उस चेतना को जानो जो परिस्थितियों से बाहर है। ऐसी कोई जगह नहीं जहां चेतना को नहीं जाना जाता हो, उसके दर्शन का द्वारा सर्वत्र है। ठहरो और देखो!

तुम आत्मा को जानना चाहते हो तो शरीर को बाहर भीतर से जान लो। अरूप निराकार को समझने के लिये रूप को साकार को समझ लो।

जहां कहीं आकर्षित सम्मोहित होते हुए मन को देखो वहीं परमेश्वर की विभूति समझकर नमस्कार करो।

प्रत्येक सौन्दर्य के प्रकाशक परमात्मा को स्मरण करते रहो। वही सर्व में झांक रहा है। ध्यान से देखते देखते सीमित से असीम की ओर यात्रा, समाधि में ले जाती है।

हमें समझाया गया है कि जीवन निरन्तर आनन्द से सम्बन्धित है परन्तु हम बाहर सुख की ओर भागते रहते हैं।

मनुष्य की परतन्त्रता काल्पनिक है मानी हुई है। बन्धन और सुख दुःख माने हुए हैं। जो कुछ भी मानते आ रहे हो उसे जानना है।

प्रायः विद्वान मनुष्य पशु पक्षियों के बन्धन को और बन्धन के कारण को जानता है परन्तु अपने बन्धन को तथा मुक्ति के उपाय को नहीं जानता वह स्वतन्त्रता चाहते हुए भी पराधीन बनाने वाले लोभ को, मोह को, अहंकार को नहीं समझ पाता।

हमें सन्त ने समझाया कि तुम न प्रेम कर सकते हो न ही क्रोध ही कर सकते हो, सब कुछ यन्त्रवत तुममें हो रहा है, तुम स्वतन्त्र नहीं हो। यह सुनते हुए यदि तुम अपनी यन्त्रवत मनःस्थिति को जान लो तभी तुम आत्मज्ञान की सीढ़ी में चढ़ना आरम्भ कर सकते हो।

कहीं सुनकर या पढ़कर कहने लगना कि ''मैं चेतन आत्मा हूं'', यह आत्म ज्ञान नहीं है। तुम अपने को जो कुछ मानते हो वह जानो पहिचानो, सत असत जड़ चेतन का स्वयं निर्णय करो।

तुम स्वयं कामी क्रोधी द्वेषी प्रेमी दानी दयालु न बनकर काम क्रोधादि दोषों गुणों को देखो, जो कुछ भी भीतर हो रहा है उसको साक्षी होकर देखो।

दिन में अनेकों बार देखने का अभ्यास बढ़ाओ। जब देखने की याद न रहे तब तक अधिक सजग रहकर देखते रहने को तत्पर रहो।

प्रत्येक मनुष्य सौन्दर्य में, माधुर्य ऐश्वर्य में, आकर्षित होता है। अज्ञान में वह सौन्दर्य माधुर्य ऐश्वर्य किसी वस्तु का अथवा व्यक्ति का ही प्रतीत होता है लेकिन ज्ञान में देखने वाले को समस्त आकर्षण के पीछे परमात्मा की महिमा ही दीखती है।

सन्त निर्णय है कि जो तुम्हें आकर्षित करे उसे ही परमात्मा की विभूति समझो। नामरूप के मोही न बनकर, नामरूप के प्रकाशक तत्व को जानकर उसी में प्रेम को केन्द्रित होने दो। अज्ञानवश यदि तुम किसी वस्तु व्यक्ति को सुन्दर मानते रहोगे तब तो आसक्ति के बन्धन में दुःख ही भोगना होगा। भोगी मनुष्य वासन की सात गांठों से बंधा है। भागवत सप्ताह में सात गांठ वाला बांस गाड़ने की प्रथा है। सात गाठों से छुटना मुक्ति है।

नारी की आसक्ति, पुत्र की आसक्ति, व्यवसायिक आसक्ति, धनासक्ति, कुटुम्ब की आसक्ति, धन में आसक्ति, ग्राम में आसक्ति यही सात गांठ जीव के साथ लगी हैं। आसक्ति के परिणाम में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अविद्या यही शास्त्र में सात गांठे हैं––इनसे छूटना ही मुक्त होना है।

स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है वह सत्य है वह प्राप्त ही है। परतन्त्रता अर्जित है, कल्पित है, स्वनिर्मित है उसे जान लेना ही उससे मुक्ति पाना है।

सन्तमत कहता है कि तुम दूसरों को अपने लिये बदलने का व्यर्थ प्रयास न करो अपने को बदल लो। एक डाकू हत्यारा महात्मा की शरण आकर साधु हो गया उसे डाकू साधु मानकर अनेकों व्यक्ति बहुत कष्ट देते

थे। उससे पूछा गया कि तुम इतने भयंकर क्रूरकर्मी होकर अब इतने शान्त मौन सहिष्णु कैसे रहते हो? उसने उत्तर दिया कि 'मुझे इन सताने वालों पर करुणा आती है—यह सोचकर कि' मैं जैसा कल नासमझ था, हिंसारत था, वैसे ही यह लोग हैं, पता नहीं यह लोग कब ज्ञान में जायेंगे।'

प्रतिकूलता में समस्थित रहना महान तप है। ज्ञान में सजग रहने पर ही कोई ऐसा तपस्वी होता है। केवल कथन से या कथा श्रवण से ही तप त्याग नहीं बन पाता। मन में संयोग के भोग का अभ्यास दृढ़ हो गया है योग का अभ्यास दृढ़ करने के लिये दृढ़ संकल्प एवं साहस संयम और सतत साधना की आवश्यकता होती है। अपने मैं रूपी शून्य बिन्दु को परमात्मा सिन्धु में निरन्तर अनुभव करो तभी अनन्त जीवन का आनन्द सुलभ होगा।

तुम उस अहंकार से सावधान रहो जो सबको अपनी मुट्ठी में लेना चाहता है, भगवान को भी अपने वश में लाने की सोचता रहता है।

आविविकोपहोरण यथा प्राप्तार्थ पूजनैः।
बोधाय पूज्यतां बुध्द स्वभावः परमेश्वरः।।

पूर्ण विवेक रूप उपहार से प्राप्त वस्तु द्वारा बोध के लिये बुद्धि पूर्वक आत्मा रूप परमेश्वर की पूजा कीजिये। (वशिष्ठ)

आत्मा महान शक्ति मय है तुम अहंकार द्वारा उस शक्ति को मोहमयी, लोभमयी, काममयी, क्रोधमयी, एवं ईर्ष्या द्वेषमयी, घृणामयी, बनाकर घोर अशान्ति का दुख भोगते हो। यद्यपि सब कुछ सुखी रहने के लिये ही करते हो परन्तु अज्ञान में करते हो। ज्ञान में वही शक्ति विवेकमयी, प्रेममयी,

दयामयी, करुणामयी, क्षमामयी, समस्त सद्‌गुणमयी होकर जीवन में दिव्यता एवं परम शान्ति के साम्राज्य में पहुंचा देती है।

यह भी गुरु सन्देश है––भगवान भाव ग्राही हैं, तुम सारग्राही होकर देखो। जहां जड़ देह दिखती है वहीं तुम नित्य चेतन आत्मा को प्रत्येक सम्बन्धी जनों में देखो। देह से ममता न रखकर उसी व्यक्ति में आत्मा से प्रेम करो। इन्द्रियों के असंयम को रोकते रहो। प्रेम पूर्वक संयमी होकर निष्काम सेवा में तत्पर रहो।

ज्ञान द्वारा निरन्तर 'मैं आत्मा हूं, इसी स्मृति से एकता की प्रतीति होती रहे–यही आत्म भाव की साधना है। अथवा श्रद्धा भक्ति सहित भगवद् भाव दृढ़ हो जाये तब यही भक्त का भजन है।

शब्द रहित बोध को भाव कहते हैं। भाव ही शरीरों के साथ सम्बन्धाकार बनता है अर्थात् माता पिता पति पत्नी शिष्य गुरु मय बनता है वही भाव भगवान मय होता है और ज्ञान में देखते ही भाव ही आत्मा परमात्मा मय हो जाता है।

अज्ञान में रस्सी सांप दीखती है और सांप रस्सी प्रतीत होता है लेकिन ज्ञान में रस्सी, रस्सी ही है, सांप सांप ही है स्पष्ट दीखता है। अद्वैत ज्ञान में संसार ही परमात्मा है और परमात्मा ही संसार प्रतीत होता है।

ज्ञान में ही यह देखने समझने में आता है कि जो कुछ भी अहंकृति द्वारा अर्थात् करने से मिलता है वह कर्ता के हाथ में होता है। जो कर्ता की मुट्ठी में होता है कोई छोटी वस्तु ही हो सकती है, वह महान नहीं हो सकता, वह परमात्मा नहीं हो सकता।

सन्त संगति से यह ज्ञान हुआ कि जिस ज्ञान में अज्ञान की सीमा दीखती है वह हमारे चौथे शरीर से सुलभ होता है।

तीन शरीरों तक तो हम विषय सुखों के, धन सम्पत्ति के तथा मान के, भोगी एवं महत्वाकांक्षी ही बने रहकर विविध वस्तुओं एवं व्यक्ति के संयोग की दासता और वियोग के भय से ही आक्रान्त घिरे रहते हैं। चौथे शरीर में अधिकार प्राप्त होने पर सर्व शक्तिमान प्रभु के प्रति अर्थात् भगवान के प्रति श्रद्धा प्रेम बढ़ता है।

पांचवें शरीर में साधना के द्वारा अधिकार प्राप्त करने वाला योगी होता है। चौथे शरीर से भक्ति की साधना और पांचवें शरीर से परमात्मा के रहस्य का क्रमशः परिचय मिलता है।

हमने सुना है कि चार शरीरों तक द्वैत की साधना और पांचवें शरीर से अद्वैत की साधना पूर्ण होती है। इस स्थूल देह के भीतर सात चक्रों का और सात देहों का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है।

भगवान कहते हैं सभी प्रकार के भाव मुझ से ही चलते हैं। सभी भावो अथवा विचारों का मूल श्रोत परमात्मा ही है। इसलिये सजग रहकर हम साधकों को भावों एवं विचारों के बीच उस नित्य चेतन सत्ता को ध्यान से देखते रहने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

एक सन्त कह रहे थे कि सत्य के भिखारी न बनो, उसकी प्यास बढ़ा लो। प्यास ही नित्य योग का अनुभव करा देगी।

सत्य की प्यास चौथे शरीर की भूमिका में बढ़ती है। तीसरे शरीर तक तो धन की तथा सुखोपभोग की एवं पद प्रतिष्ठा सन्मान की प्यास प्रबल रहती है।

तीसरे शरीर में खर्च होने वाली शक्ति को समेटते हुए हम साधक जन चौथे शरीर तक यात्रा पूरी कर सकते हैं। इसका उपाय यही है कि अधिक से अधिक शान्त रहकर भीतर जो कुछ हो रहा है उसे ध्यान से देखते रहें। चाहें कुछ भी नहीं। किसी विकार से अर्थात् काम क्रोध द्वेषादि शक्तियों से संघर्ष न करें इन्हें भी किनारे रहकर देखते ही रहें।

शान्त मौन सावधान अविचलित रहने पर कभी न कभी अचानक कोई पर्दा खुल जाता है, जो हमें नहीं खोलना पड़ता और परमात्मा की शक्ति ऊपर स्वतः खींच लेती है। हमें प्राप्त शाक्ति को संयमित रखकर केवल प्रतीक्षा में तत्पर रहना है।

ज्ञान का एक ऐसा खण्ड है जहां दूसरा कोई दिखता ही नहीं हम ही सब ओर सभी रूपों में हैं। वही अद्वैतोपासना है।

भक्त चौथे शरीर से हठयोगी पाचवें शरीर से राजयोगी और छठवें शरीर से, अपने अपने परम लक्ष्य आत्मा एवं परमात्मा का दर्शन अथवा अनुभव करता है। इसीलिये भक्तों तथा योगी एवं राजयोगी और निर्वाण पद को प्राप्त महापुरुषों की सत्चर्चा में भिन्नता पाई जाती है।

सत्चर्चा सुनते रहना अथवा कहते रहना बाहर ही बाहर रहकर अहंकार को सन्तुष्ट करना होता है। सन्त ने हमें समझाया है कि साधना द्वारा अन्तर यात्रा करो। यात्रा के साथ ठहरों और देखो यात्रा किसमें हो रही है। जितनी

सावधानी से तुम भीतर जाओगे उतनी ही साधना की शक्ति बढ़ती जायेगी। बाहर आकर साधना का वर्णन करने से और साधना की प्रसिद्धि से प्राप्त मान एवं धन का भोग करने से शक्ति घटती जायेगी। इसीलिये हमें सावधान किया गया है कि साधना को जहां तक हो सके गुप्त ही रक्खो।

साधना की शक्ति प्रदर्शन से या तो धन मिलेगा या मान मिलेगा अथवा किसी वासना कामना की पूर्ति का सुख मिलेगा। परन्तु अक्षय सुख की अथवा शाश्वत शान्ति की प्राप्ति संसार की दिशा में कदापि न होगी। इसे ठहर कर ही देख सकोगे।

ज्ञान में जब तक संसार भरा है तब तक दोषों विकारों एवं विषमता का अन्त नहीं होता। जब ज्ञान में संसार नहीं रहता तब निर्दोष अथवा नित्य सम ब्रह्म शेष रहता है।

निर्दोष होना, सम होना ब्रह्म सम्बन्ध है। सदोष होना विषम होना संसार का सम्बन्ध है। भोगी जगतमय योगी ब्रह्ममय होता है।

ब्रह्म से जीवात्मा का नित्य निरन्तर सम्बन्ध रहता है परन्तु सम्बन्ध विस्मृत रहता है। इसीलिये हम साधकों को परमात्मा के ब्रह्म के नित्य सम्बन्ध का बार–बार दिन में अनेकों बार स्मरण करने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

जप, कीर्तन, अथवा मूर्ति में भगवद भावना तथा पूजा सेवा आदि कृत्य परमात्मा से सम्बन्ध की स्मृति को दृढ़ करते हैं लेकिन परमात्मा के नामों का जप स्मरण कीर्तन करते हुए, पूजा आराधना प्रार्थना करते हुए जब हम साधक जन संसार के पदार्थों को अर्थात धन भोग मान नाम चाहते हैं तब परमात्मा

से आन्तरिक सम्बन्ध न होकर संसार से ही सम्बन्ध बना रहता है। यही हम साधकों की मूढ़ता है।

मूढ़ता के रहते ज्ञान चक्षु नहीं खुलते। मूढ़ मनुष्य सत्य दर्शन का अधिकारी नहीं हो पाता। यह गीता का निर्णय है।

जिस मन से हम जड़ देहमय सुखमय दुखमय अथवा विनाशी नाम रूपमय बन रहे हैं उसी मन से हम अविनाशी नित्य चेतनमय हो सकते हैं। ऋषि वचन है कि–

मनसैं वानु दृष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेन पश्यति।।

(वृहदा रपय क 4 ब्रा0 4, 19)

अर्थ––मन से ही यह ब्रह्म देखने योग्य है (वह मन के पीछे ही मन का प्रकाशक मन के लिये उपासनीय है) उस ब्रह्म में कही भी नानात्व नहीं है। जो इसमें नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।

गीता 13/30 में भी यही निर्णय है कि जब उपासक पदार्थों के पृकत्व (नानात्व) को एक ही में स्थित और एक (परमात्मा) में ही उनके विस्तार को देखता है तब ब्रह्म भूत होता है। सबमें वासुदेव परमात्मा को देखने वाले को दुर्लभ महात्मा बताया है (गीता 7/16) विनाशी वस्तु को अपनी मानकर लोभी मोही कामी बनने वाले को अहंकार विमूढ़ात्मा–जीवात्मा कहते हैं किन्तु जो ज्ञान में जाग्रत रहकर विनाशी में अविनाशी वासुदेव परमात्मा को देखता है उसे ही महात्मा कहते हैं। ज्ञान ही जगतमय होकर जीवात्मा बद्धात्मा है और ज्ञान, परमात्मामय हो जाता है तब महात्मा है। महात्मा ही पूर्ण में है।

समं सर्वेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्य विनश्यतं यः पश्यति सपश्यति।।

जो पुरुष सदा न रहने वाले विनाशी चराचर भूतों में परमेश्वर को समभाव से विद्यमान देखता है वही यथार्थ देखता है। (गीता 13/17)

अज्ञान में हम आंखों से देखने को ही देखना मानते हैं——ऐसा देखना तो मनुष्य से बहुत अधिक पशुओं पक्षियों को सुलभ है।

हमें सावधान किया गया है कि उठने को, चलने को, बोलने को, स्वास लेने को, छोड़ने को, ध्यान से देखो कि भीतर कौन है जिसकी चेतना से, सत्ता से, अथवा जिसके होने से ही सब कुछ हो रहा है। उसे बाहर नहीं, भीतर खोजो।

समस्त कर्मो के पीछे जो नित्य विद्यमान है, जो ठहरा हुआ है वही तो आत्मा है। वही अकर्ता, सब कर्मों के बीच में सब कुछ का ज्ञाता है। वही विचारों के पीछे विचाराधीन है, भावों के पीछे भावातीत है, गुणों के पीछे गुणातीत है, वही परमेश्वर है भगवान है।

परम गुरु भगवान का निर्णय है कि जब दृष्टा गुणों के सिवाय अन्य को कर्ता नहीं देखता और गुणों से अत्यन्त परे परमतत्व को जानता है तब (वह साधक) परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त होता है। (गीता 14/19)

हमें सावधान किया गया है कि भगवान के नामों का जप स्मरण करते करते तथा रूप का ध्यान करते करते यदि सिद्धि नहीं प्राप्त हो रही है तब तुम सजग होकर ध्यान से जो कुछ भी इन्द्रियों द्वारा, मन द्वारा हो रहा है उसको दृष्टा होकर देखो कर्ता न बनो।

बाहर दृष्टा होकर देखो और भीतर साक्षी के समान स्थित रहो गुणों के द्वारा कभी विचलित न हो सको। यही देखा कि गुण ही गुण में वर्तते हैं स्वयं परमात्मा में स्थित रहकर चलायमान न रहो। (गीता 14/23)

आज हम लाखों मनुष्य अपने को ज्ञानी तथा विज्ञान वेत्ता मानते हैं और जो अपने को ज्ञानी विज्ञानी नहीं मानते वह दूसरे किसी को ज्ञानी विज्ञानी मानकर उन्हीं की भांति बनने का प्रयत्न करते हैं।

भगवान के मतानुसार जो ज्ञानी एवं विज्ञानी तृप्त नहीं है, जिसका अन्तःकरण विकार रहित नहीं है, जो इन्द्रियों को वश में नहीं कर सका है, जिसे मिट्टी और स्वर्ण एक समान नहीं दीखता वह परमात्मा से युक्त, मिला हुआ योगी भक्त नहीं है। अज्ञानीजनों के मध्य में वह भले ही ज्ञानी विज्ञानी माना जाता है, और पूजा जाता हो किन्तु परम गुरु भगवान के मतानुसार मूढ़ है, प्रमादी है।

हमें समझाया गया है कि स्वयं को, अपने आपको जान लेना ज्ञान है और स्वयं से भिन्न जो वस्तु है अर्थात् जो भी पर पदार्थ है उसे जान लेना तथा उसका सबकी सुख सुविधा के एवं सेवा के लिये प्रयोग करना, विज्ञान है।

जो यथार्थ को ज्ञान विज्ञान में देख लेता है वह नित्य तृप्त एवं नित्य प्राप्त परमात्मा से युक्त मिला हुआ भक्त योगी होता है। अज्ञान में उतना नहीं भटकना होता है। अध्यात्म ज्ञान में ही भटकना बन्द होता है।

यह भी सन्त का निर्णय है कि विज्ञानी, वस्तु को खोजता है लेकिन वस्तु के अन्तर में उसके परमाश्रय सत्य को नहीं देख पाता। जो वस्तु के

सत्य को जानता है, जीवन चेतना को जानता है उसे ही धर्मात्मा कहते हैं। जहां केवल सत्य की प्यास है, नित्य जीवन को जानने की भूख है वही धर्म है। जो मन रूपी वाहन में सवार होकर मनोरथ के साथ दौड़ रहा है वह अधार्मिक है।

यह गुरु निर्णय है कि तुम जीवन को देह की तथा प्राणों की गति में ही सीमित न समझो। जीवन को ध्यान में, ज्ञान में देखो। धर्म में देखो। मन बुद्धि की सीमा में ही जीवन सीमित नहीं है। मन बुद्धि का विस्तार इसी जीवन में है।

जब तक तुम कहीं भयातुर होते हो, चिन्तित अशान्त होते हो तब तक तुम अविनाशी नित्य जीवन के ज्ञान से वंचित हो।

जीवन के ज्ञान विज्ञान के लिये देहादिक वस्तुओं एवं माइक नामरूपों के प्रति प्रीति की सीमा को पार करते हुए अनन्त जीवन में प्रेम स्थिर करना होगा। विनाशी देहादिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति रहने तक भय से मुक्ति नहीं मिलती।

तुम मन के संस्कारों के आधार पर होने वाले अनुभवों को ही पूर्ण सत्य नहीं मानो। सभी प्रकार के अनुभवों एवं अनेकों वस्तुओं के ज्ञान से ऊपर उठकर परमात्मा का अनुभव होने दो।

जो साधक मिटने से नहीं डरे उसी को पूर्ण जीवन सुलभ हो सका है। जब तक मरने का भय रहता है तब तक नित्य जीवन का अनुभव नहीं होता। यह गुरु निर्णय है कि तुम जन्म के पूर्व और मृत्यु के पश्चात् स्वयं का परिचय प्राप्त करो।

दुःख का आरम्भ और अन्त है, सुख का भी आरम्भ और अन्त है। तुम सुख–दुख के भोक्ता न बनकर उन्हें दृष्टा होकर देखो, तभी स्वस्थ रह सकोगे। स्वयं में स्थिर शान्त न होने तक तुम अस्वस्थ हो।

स्वस्थ होकर ही तुम देख सकोगे कि जिनके पास दूसरों से बहुत कम है वह उसे पाने के लिये अशान्त हैं और जिनके पास बहुत कुछ है सब कुछ है वह तो सबसे अधिक अशान्त हैं। अमेरिका वालों को सुनो तो वे बहुत अशान्त मिलेंगे जबकि सर्वाधिक सुखी हैं।

यह ब्रह्म का उपदेश है कि तुम देवताओं के समान इच्छित भौगैश्वर्य प्राप्त कर रहे हो तो इन्द्रियों को वश में रक्खो, दमन करो। यदि तुम विशेष धनी हो तो दान करते रहो। और शक्तिशाली हो तो शक्तिहीनों पर दया करते रहो। यदि ऐसा न कर सकोगे तो भाग्यहीन दरिद्र पतित होने के लिये तैयार रहो।

देवता अपने भीतर दमन के द्वारा तथा मनुष्य दान के द्वारा एवं दानव दया द्वारा अपनी उन्नति सद्गति प्राप्त कर सके हैं।

यह समझ लेने की बात है कि इन्द्रियों के दमन से पुण्य का क्षय होना रुकता है, क्योंकि जो कोई जितनी अधिक कामनाओं की पूर्ति करता है उतनी ही अधिक पुण्य रूपी पूंजी घटती जाती है। पुण्य के क्षीण होने पर सुखोपभोग के स्थान पर प्रतिकूलताओं का दुःख भोगना पड़ता है।

पुण्य के घटने पर शरीर रोगी हो जाता है, खाने पीने की पूरी सुविधा होने पर भी स्वादिष्ट भोजन नहीं कर पाता।

पुण्य के घटने पर अपकीर्ति अपमान होने लगता है, धन की कमी हो जाती है प्रियजनों के वियोग का दुख आ पड़ता है। पुण्य के घटने पर पाप के बढ़ने पर चोर का भय, राजा का भय, जीव जन्तु पशु का भय घेरे रहता है।

कुछ पुण्य ऐसे होते हैं जो भोग में सहायक होते हैं और कुछ पुण्य ऐसे भी हैं जो ज्ञानयोग भक्तियोग में सहायक होते हैं।

भोग देने वाले पुण्यों की प्राप्ति भगवद्दया से होती है और परमात्मा के योग में सहायक पुण्यों की प्राप्ति भगवद कृपा से पारमार्थिक साधना की सिद्धि में सहायता मिलती है।

हम सभी साधकों को गुरु विवेक द्वारा तन की, मन की दशा को देखते रहना आवश्यक है और जहां कहीं लोभ मद् मोह एवं अभिमान आदि दोषों के कारण हम दुखी हो रहे हों वहीं अपने को असत संगी समझ कर सत्संगी होने का संकल्प करना चाहिये। असत संगी उसे ही माना गया है जो देह का मोही हो, धन आदि वस्तुओं का लोभी हो और किसी प्रकार की श्रेष्ठता का अभिमानी हो अथवा विनाशी के संग जनित क्षणस्थायी सुख का कामी हो। तुम ठहरो और स्वयं को देखो!

स्वयं से संसार की ओर अहंकार की जितनी भी यात्रायें हैं वह सुख के लिये हैं। असत् संगी, स्वयं संसार की ओर चलता रहता है, कहीं विश्राम पाता ही नहीं। जब सब ओर से निराश होकर थक जाता है तब संसार से स्वयं की ओर तभी लौट पाता है जब लौट कर स्वयं में शान्त रहने वाले सन्त का श्रद्धा पूर्वक सत्संग करता है।

जब तक तुम सुख से तृप्त होने के लिये सांसारिक वस्तुओं एवं व्यक्तियों का आश्रय लेते हो तब तक असत संगी हो और जब तुम संसार से विमुख होकर स्वयं में शान्त होकर सत्य परमात्मा के सन्मुख होते हो तब सत्संगी हो। क्योंकि सत परमात्मा नित्य सर्वत्र प्राप्त है।

सन्त महात्मा के दर्शनार्थ जो साधक तीर्थों में जाते हैं वह शोचनीय नहीं है लेकिन जिन्हें सन्त मिल चुके, जो अपने को शिष्य मानते हैं वह लोग भी दूसरों को देखकर तीर्थों की यात्रा करते हैं वह अवश्य शोचनीय है क्योंकि श्रद्धा अभी तक ज्ञान स्वरूप गुरु के प्रति दृढ़ नहीं हो सकी। यदि बुद्धि की जड़ता के कारण अर्थात् की क्षमता न होने के कारण गुरु आशा देता तीर्थ यात्रा करने की तब भी तीर्थ यात्रा का फल गुरु विवेक की प्राप्ति ही होनी चाहिये काल्पनिक मुक्ति का प्रलोभन नहीं।

यह भी गुरु निर्देश है कि अज्ञान में जो माना जाता है वही संसार है और ज्ञान में जो जाना जाता है वह सत्स्वरूप है। समाधि में जिसकी अनुभूति होती है वह परमात्मा है। तत्व वेत्ता का निर्णय है कि अज्ञान में परमात्मा ही संसार के रूप में भासित हो रहा है और ज्ञान ध्यान में संसार ही परमात्मा दीखता है।

अज्ञान में तुलसीदास जी को संसार में सुख देने वाली स्त्री ही दीखती थी लेकिन जब ज्ञान दृष्टि खुल गई तब सारा जगत सियाराम मय दीखने लगा।

अज्ञान में सदा बाहर की ओर यात्रा होती है। ज्ञान में अन्तर में यात्रा होती है। लाखों नर नारी अज्ञान में शरीर इन्द्रियां तथा मन के द्वारा बाहर

तीर्थ यात्रा करते हैं। जो ज्ञान में जाग जाते हैं वह शान्त मौन होकर भीतर की यात्रा द्वारा परम तीर्थ आत्मा का अनुभव करते हैं। अज्ञानी दश दिशाओं की यात्रा को जानता है लेकिन ज्ञानी ग्यारहवीं दिशा में आत्मा की ओर यात्रा पूर्ण करता है।

अज्ञान में जो प्रत्यक्ष दीखता है वह संसार का पदार्थ है लेकिन जो दिखाई नहीं देता वह परमात्मा है। आंखों से सभी को पत्थर की मूर्ति दीखती है लेकिन आंखों से मूर्ति के प्रति प्रेम नहीं दीखता।

ज्ञानी के लिये सारा जगत परमात्मा है लेकिन परमात्मा सारा जगत नहीं है, वह जगत के बाहर अनन्त है। ध्यान से देखने पर ज्ञान में काम क्रोधादि विकारों से मुक्त चेतना अर्थात् चिदाकाश को ही परब्रह्म कहते हैं। उसी को परमाश्रम परमात्मा कहते हैं।

———

हे समर्थ प्रभु दया तुम्हारी मेरे सारे दुख हरती है।।
तुमसे मिलकर ही हे प्रियतम अनुपम शान्ति मिला करती है।।

इसी दया से प्राणिमात्र को तुमने बहु विधि दान दिया है।
शरणागत अधमातिअधम को अपने निकट स्थान दिया है।
सबको सबकी इच्छित विधि से अपनी गति का ज्ञान दिया है।
अपने से अनुरक्त जनों को सर्वोपरि सम्मान दिया है।
पतित पावनी इसी दया से असुरों की माया डरती है।।

करते आये और करोगे नाथ सदा तुम प्यार हमारा।

तुम्हीं जानते हो किस विधि से होना है उपचार हमारा।
तुमसे हमने सब कुछ पाया तुम में ही संसार हमारा।
तुमको ही तो भव बन्धन से करना है उद्धार हमारा।
नाथ तुम्हारे चिन्तन से ही मेरी सब बाधा टरती है।।

हम न समझ पाते हैं तुमको, किन रूपों में क्या कर जाते।
जहां भूलते हैं इस जग में तुम करुणानिधि राह दिखाते।
गिर पड़ते हैं जहां कहीं हम तुम्हीं शक्ति दें शीघ्र उठाते।
सुख से अधिक सदा दुख में हम अपने निकट तुम्हीं को पाते।
हम तुममें ही हैं, इस अनुभव से चित की चिन्ता मरती है।।

अब समझे हैं अन्तर्यामी तुम किंचित भी दूर नहीं हो।
कितना ही हम भूलें तुमको तुम न भूलते हमें कहीं हो।
तुम्हीं चाहते हो जब जिसको तत्क्षण मिलते उसे वहीं हो।
मेरे जन्म मृत्यु के संगी नित्य सत्य तुम अभी यहीं हो।
''पथिक'' हृदय में भक्ति तुम्हारी अति आनन्द सुधा भरती है।।

——

स्वयं ही अपने शत्रु और मित्र

जिज्ञासु रूप में प्रिय आत्मन!

अपने उद्धार का उपाय प्रायः अनेकों साधक पूछा करते हैं।

परमगुरु भगवान का निर्णय है कि तुम अपने ही द्वारा अपना उद्धार करो अपनी अधोगति न होने दो क्योंकि :—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुर रात्मनः। गीता 6/5

अर्थ——आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है।

जो स्वयं शरीर इन्द्रियां एवं मन को अपने वश में कर लेता है वही स्वयं अपना मित्र है और जो शरीर इन्द्रियां मन को नहीं जीत पाता वह अपने साथ शत्रुता कर रहा है। (गीता 6/6)

आलसी प्रमादी व्यक्ति अपने ही द्वारा अपनी हानि करता है। लोभी मोही अभिमानी, सुखासक्त, कामी अपने ही दोषों से दुखी होता है वह अपना मित्र नहीं है। तुम दूसरों के साथ वह न करो जो तुम दूसरों से नहीं चाहते हो, तब तुम्हारा कोई शत्रु न होगा।

यह भी गुरु निर्णय है किः— तुम भगवान के दिव्य गुणों को अपने भीतर उतरने दो तभी तुम पारस की भांति हो जाओगे और जो लोहे की भांति काले हैं वह व्यक्ति तुम्हारे सम्पर्क में आते ही स्वर्ण हो जायेंगे।

यदि तुम कृतज्ञता नम्रता उदारता से अपने को भरते जाते हो तब तो अपने मित्र हो, इसके विपरीत परमेश्वर के विधान से जो शक्ति सम्पत्ति भोग

सामग्री मिली है उन्हें अपनी मानते हुए मोही लोभी, अभिमानी, कामी बने हो तब अपने शत्रु हो।

तुम महत्वपूर्ण को, जब तुच्छ के पीछे त्याग करते हो, तब अपने भीतर शत्रुता को पुष्ट करते हो। जब तुम व्यर्थ का त्याग करते हो, महत्वपूर्ण के पीछे, जब तुम तुच्छ का त्याग करते हो महत्वपूर्ण के लिये, अथवा धर्म के लिये, तब तुम अपने मित्र हो।

यदि हानि लाभ संयोग वियोग आदि द्वन्द्वों में सम शान्त रहते हो तो अपने मित्र हो। जब इन्द्रियों के बस में हो जाते हो तब अपने शत्रु हो, और जब संयम में रहते हो तब अपने मित्र हो। जब तुम दुख में रोते हो तब अपने शत्रु हो। जब तुम सुख के पीछे भागना बन्द कर देते हो तब अपने मित्र हो।

हमें यह भी समझाया गया है कि जब तुम धर्माचरण में प्रतिकूलताओं के कष्टों दुखों को धैर्यपूर्वक सह लेते हो तब अपने मित्र हो, और जब दुःख से विचलित हो जाते हो तब अपने शत्रु हो, तब तुम धार्मिक नहीं हो, अधार्मिक हो।

यदि तुम अपना हित नहीं साध पाते तब तुम्हीं अपने शत्रु हो, तब तुम दूसरों के मित्र हो ही नहीं सकते।

जब तक अज्ञान में तुम कुछ भी करते हो तब तक अपने शत्रु हो। अज्ञान में रहना प्रथम पाप है। ज्ञान में देखना प्रथम पुण्य है।

तुम परिणाम को न देखकर अपने सुख के लिये ही सब कर्म करते हो तब अपने शत्रु हो। परिणामदर्शी बुद्धि से जो कुछ करते हो तब अपने मित्र

हो। अज्ञान में अपने ही द्वारा अपने लिये दुःख के बीज बोते हो तब तक तुम अपने शत्रु हो। तब तुम्हारा मित्र भी तुम्हारी रक्षा कैसे कर सकेगा? अतः अपने मित्र स्वयं ही बनो। अपना मित्र होना बहुत बड़ी वीरता है।

तुम रामायण गीता भागवत वेदान्त पढ़ सुनकर भी धन मान भोग सुख चाहते हो तो अपने शत्रु हो। भीतर के शत्रुओं को नष्ट करने के लिये प्रभु को पुकारते हो तो अपने मित्र हो।

हमें सन्त ने समझाया है कि यदि तुम हानि का दुख या कभी अपमान का दुख अथवा कभी वियोग का दुःख भोग चुके हो तो सब जगत की वस्तुओं से प्रतीत होने वाले सुखों से तृप्त होने की आशा छोड़ दो और अपनी ओर से कुछ न चाहो तभी पराधीनता से मुक्त हो सकोगे।

तुम सम्बन्धित वस्तुओं व्यक्तियों को सदा बने रहने की अथवा उनके साथ जीते रहने का लोभ छोड़कर सबके प्रति कर्तव्य पालन करते हुए कुछ भी फल न चाहते हुए प्रभु का स्मरण करते रहो तभी वियोग के भय से चिन्ता से और मृत्यु के दुख से छूट सकोगे।

सन्त ने समझाया है :– जब तब पाने का लालच है, तथा कुछ छूट जाने का अथवा मरने का भय है और अपने श्रम द्वारा सफलता की आशा है तब तक अहंकार की ग्रन्थि बनी ही रहती है और अहंकार कभी विश्राम नहीं कर पाता, वह श्रम से पीड़ित रहता है, इसीलिये हमें गुरु निर्देश मिला है तुम अविनाशी आत्मा में बुद्धि को स्थिर करके विनाशी से आस्था विश्वास आत्मीयता हटा लो तभी तुम स्वयं अपने मित्र हो सकोगे।

तुम आत्मस्थ होकर समस्त कर्मों के पीछे प्रकृति को देखो।

तुम्हारे माता पिता ने यथाशक्ति जितना भी सुख सुविधा के लिये जो तुम्हें दिया उसे पाकर तुम लोभी मोही कामी क्रोधी अभिमानी बने हो अथवा निर्लोभी, निर्मोही, निष्कामी, क्षमाशील निरभिमानी आत्मज्ञानी बने हो–यह देखो, निर्णय करो!

सन्तान को सुखी देखने वाले मोही माता पिता सहस्रों मिलते हैं, लेकिन सन्तान का हित करने वाले उन्हें लोभ मोह अभिमान आदि दोषों से बचते रहने की प्रेरणा देने वाले करोड़ों में कोई एक होते हैं। ऐसे ही माता पिता, सन्तान के मित्र हैं।

किसी को सुख सुविधा की व्यवस्था से पुण्य बनता है। जितना सुख भोगा जाता है उतना ही पुण्य क्षीण होता है, घटता जाता है। पुण्य घटाना शत्रुता है।

दूसरों का हित साधने से धर्म बढ़ता है धर्म वृद्धि से शान्ति सुलभ होती है। सुख के लिये जगत की वस्तु व्यक्ति अवस्था तथा अनुकूल परिस्थिति की अपेक्षा रहती है और शान्ति के लिये परमात्मा का आश्रय लेना होता है। सुख क्षणिक है शान्ति शाश्वत है। शान्ति प्राप्त होने पर सुख का लालच और दुख का भय नहीं रहता। सुख के लिये संसार की वस्तु चाहिये, शान्ति के लिये परमात्मा योगानुभव चाहिये।

परमात्मा के ज्ञान विज्ञान में तृप्त होकर यदि तुम विनाशी देहादिक वस्तुओं से ममता मोह लोभ नहीं रहने दोगे तब तो भगवान भी तुम्हें दुख नहीं दे सकेंगे और यदि ममता मोहादि दोष न छोड़ सके तब तो भगवान भी तुम्हें शान्ति आनन्द नहीं दे सकेंगे, परन्तु कृपा करुणा तो रहेगी ही।

यदि तुम भगवान के उपदेशानुसार ममता छोड़कर समता से स्थिर हो जाते हो तब तो अपने मित्र हो, यदि ममता मोह लोभादि दोष नहीं छोड़ पाते तब तुम अपने शत्रु हो।

तुम जिसे देखो उसी का मंगल चाहो किसी का अमंगल अहित न चाहो तभी तुम अपने मित्र हो। यदि तुम ऐसा कोई काम नहीं करते जिसके अन्त में तुम्हें दुख भोगना पड़ेगा तब तो तुम अपने मित्र हो, यदि सुख के लालचवश तुम ऐसा कर्म करते हो जिसके परिणाम में तुम्हें दुख भोगना होगा तब तुम अपने शत्रु हो।

शत्रुता तो क्षण भर में पूरी होती है परन्तु मित्रता जीवन भर में पूरी होनी दुष्कर है।

यदि तुम क्रोध करते हो तो अपने में ही आग लगाते हो, किसी के प्रति ईर्ष्या द्वेष कलह करते हो तो प्रथम अपने को ही तपाते हो तब तुम स्वयं ही अपने शत्रु हो।

किसी अन्य की भूल पर गलती पर तुम दुखी होते हो तब तुम खुद ही अपने को दण्ड देते हो यही अपने साथ शत्रुता है। तुम शान्त स्वस्थ रहते हो तो अपने मित्र हो।

जिस प्रारब्ध कर्म को भोगने के लिये आज तुम पराधीन हो, कल वही प्रारब्ध तुम्हारे आधीन था। कल जिस प्रारब्ध कर्म के आधीन हो जाओगे आज वह प्रारब्ध तुम्हारे आधीन है। जैसा चाहो वैसा प्रारब्ध बना लो।

यह भी समझ लो कि तुम्हारी आवश्यकता से अधिक जो कुछ भी तुम्हारे पास संग्रह है वह दूसरों का हिस्सा है इसीलिये तुम्हारे ऊपर दूसरे के प्रति कर्तव्य का ऋण लदा रहता है उसी का दण्ड, चिन्ता भय हानि का दुख एवं अशान्ति के रूप में भोगते रहना होता है।

यह भी समझ लो, वासना का पथ गोल है उसमें चलते हुए चक्कर ही काटना होगा, पहुंचना कहीं होगा ही नहीं। चक्कर काटने के लिये शक्ति तो सदा ही रहेगी क्योंकि तुम्हारा सम्बन्ध अनन्त शक्तिमान परमात्मा से है, भले ही तुम्हें उसका ज्ञान न हो, फिर भी परमात्मा तो नित्य निरन्तर है ही। जब तक इसे नहीं जानते हो तब तक अपने शत्रु हो।

जब तक तुम्हारे व्यवहार में कोई उच्च आदर्श प्रेरक न हो तब तक वह व्यवहृत कर्म भयंकर होगा और जब तक उच्चादर्श के अनुसार तुम्हारा व्यवहार न होगा तब तक शक्ति व्यर्थ नष्ट होती रहेगी।

यह भी गुरु निर्देश है कि तुम्हें परमात्मा से विमुख बनाने वाली वह इच्छायें हैं जिन्हें तुम पूरी नहीं कर पाते हो और उन्हें त्याग भी नहीं सकते हो। अपने भीतर इस यन्त्रवत होने वाली विकारों की गति को जानने के लिये सावधान रहो।

हम सत्य परमात्मा को भूले हुए हैं——यह इतना कठिन रोग नहीं है, कठिन समस्या तो यह है कि जो सत्य आनन्द नहीं है, अथवा जो अपना नहीं है उसे ही सत्य आनन्द और अपना मानने की भ्रान्ति में चल रहे हैं। यह भ्रान्ति सुखासक्ति के कारण है इसीलिये भगवान कहते हैं सुख की कामना

को छोड़ो इच्छा ममता अहंकार से रहित होकर विचारों तक (सर्वत्र) शान्ति ही रहेगी। (गीता 2–71)

यह भी गुरु सन्देश है कि जब तक इन्दियों के वश में हो तब तक तुम पशुवत हो और इन्द्रियों को वश में रक्खो तो पशुपति हो सकते हो अथवा तभी पशुपति भगवान शंकर के भक्त हो सकते हो। जब इन्द्रियों को वश में कर लोगे तब इन्द्रियां तुम्हारी मित्र हो जायेगी।

तुम इन्द्रियों के सहारे जिन कामनाओं वासनाओं को पूर्ण करना चाहते हो वे तो अनन्त हैं, पूरी होंगी ही नहीं। तुम केवल आवश्यकता पूरी करो, वह बहुत कम हैं।

तुम यह जान लो कि सुख के विपरीत दुःख नहीं है अपितु इच्छायें हैं, उन्हें देखते रहो। साथ ही सदैव इस देह से अपने को भिन्न देखने का अभ्यास दृढ़ कर लो, सभी आसक्ति मिटेगी। यदि आसक्ति ममता अहंता मिटाने की साधना में लगे हो तब तुम अपने मित्र हो।

हमें सन्त ने समझाया कि यदि तुम आलसी हो तो अपने शत्रु हो। क्योंकि आलस्य का परिणाम भी गति सद्गति उन्नति चाहने वाले विद्यार्थी के लिये धनार्थी के लिये परमार्थी के लिये बहुत ही अशुभ है। तुम जो कुछ शुभारम्भ करना चाहते हो उसका मुहूर्त आलस्य के त्याग से ही होता है।

आलस्य की प्रधानता तमोगुणी व्यक्ति में रहती है। बल का दुरुपयोग करने वाले तथा ब्रह्मचर्य व्रत को नष्ट करने वाले विषयासक्त में होती है। अधिक खाने वाले तथा सूर्योदय के समय सोते रहने वालों में भी होती है।

आलस्य की अधिकता बहुत अधिक वार्ता करने वाले, क्रोध करने वाले, कई बार खाने वाले, काम से जी चुराने वाले में रहती है।

जिस प्रकार लोहे को जंग खा जाता है, लकड़ी को घुन खा जाता है, किसी धनी के धन को सुरापान का दुर्व्यसन खा जाता है उसी प्रकार आलसी के बल हो आलस्य खा जाता है।

महात्मा बुद्ध ने कहा है कि पानी में सिवार हो तो मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता इसी प्रकार जिसका मन आलस्य से भरा है वह अपना हित नहीं देख सकता तथा अपना स्वरूप नहीं देख सकता। आलस्य का परिणाम दरिद्रता है। आलस्य, जीते हुए मरण की झांकी दिखाता है। आलसी बहुत ही कमबक्त है क्योंकि उसके पास समय निकलता ही नहीं।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी का निर्णय है कि मनुष्य यदि आलसी न बनता तो पृथ्वी में कोई मूर्ख न होता और न निर्धन होता।

ध्यान में जप में पाठ में एकाग्रता आते ही आलस्य आ जाता है इसलिये साधक को खड़े होकर ध्यान में आलस्य की बाधा नहीं होती जप कीर्तन भी खड़े होकर करने से आलस्य नहीं आता। मस्तिष्क को थकावट से जो आलस्य आता है वह पांच सात मिनट के विश्राम से दूर हो जाता है।

साधक को कमर झुकाकर बैठने की आदत छोड़ देनी चाहिये। आलस्य को अवसर देने से आदत पड़ जाती है।

ऋग्वेद में मं0 10 में मन्त्र है उसमें ¬समानी मन्त्र समितिः समानी0। द्वारा यह अभीप्सा की गई है कि हमारा मन्त्र एक हो; मन प्राण और हृदय

एक हों, हमारी उपासना एक हो, सारा मानव समाज एक समिति हो, एक समाज हो। इत्यादि वाक्यों में समस्त मानव समाज को एकता संगठन की प्रेरणा मिलती है परन्तु अज्ञानवश मनुष्य धन भोग मान की तृष्णा को तृप्त करने के लिये परस्पर कर्म में, धर्म में, साधना उपासना एवं ईश्वर में अनेकों भेद उत्पन्न कर चुका है। ऐसी स्थिति में या तो ध्यान से अपने अज्ञान की सीमा, स्वयं की स्वीकृतियों मान्यताओं के दुष्परिणाम को देखकर सावधान हो सकता है, या फिर कालान्तर में दुखद परिणाम को भोगकर यथार्थ ज्ञान के लिये सावधान होगा।

इसीलिये भगवान ने निर्णय दे दिया है कि जीवत्सम आदि सत्य दर्शन के लिये सजग नहीं है तो स्वयं ही अपना शत्रु है; और उद्धार के लिये स्वयं ही सावधान होकर प्रयत्न करता है तो अपना मित्र है।

ध्यान से देखते देखते जब चित्र निरुद्ध हो जाता है जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब स्वयं के द्वारा, स्वयं आत्मा में ही सन्तुष्टि सुलभ होती है। (गीता 6/20)

इस देश में जिन्हें सन्त महात्मा रूप में परम पूज्य माना जाता है उन्हें साम्राज्य भी व्यर्थ अनर्थ का हेतु दीखता रहा परन्तु आज हमें और हमारे अनेकों साथियों को अपनी मनोवेग सार्थक दीख रही है।

परम गुरु भगवान यह नहीं कहते कि तुम धन सम्पत्ति छोड़ दो, वह तो कहते हैं ममता छोड़ दो, उसे अपनी न मानो, कुछ समय तक के लिये मिली हुई जानो। सम्पत्ति का उपयोग बुरा नहीं है उसके प्रति आसक्ति, ममता दुखदाई बनती है। जो कुछ भी प्रारब्धानुसार मिला है उसे अपना न मानना

ही बन्धन से मुक्त होना है। पत्थर का टुकड़ा बहुमूल्य हीरा दीखता है––यही बन्धन में डालने वाली मति है और जब बहुमूल्य हीरा भी पत्थर का टुकड़ा दीखता है––यही मुक्तिदायनी मति है। कोई पशु स्वर्ण हीरा पत्थर में भेदभाव नहीं रखते वह लोभी नहीं है। मनुष्य मूल्य बढ़ा देने से ही लोभी बन गया है। अज्ञान अन्धकार में हमारी स्वीकृतियां मान्यतायें बन्धन बन गई है अतः ज्ञान से ही बन्धन मिट सकता है। अज्ञानी अपना शत्रु है, ज्ञान में जाग्रत अपना मित्र है।

———––

परमेश आनन्दधाम हो नारायणाय नमो नमः।
सर्वत्र पूरणकाम हो नारायणाय नमो नमः।।

ऐसे दयानिधान तुम भक्तों के जीवन प्राण तुम।
मोहन नयनाभिराम हो, नारायणाय नमो नमः।।

अद्वैत अज अनन्त तुम अव्यय श्रीमन्त कन्त तुम।
तुम राग हो तुम श्याम हो नारायणाय नमो नमः।।

सर्वस्व सत्यसार तुम श्रद्धेय विभु अपार तुम।
अनुपम सुखद ललाम हो नारायणाय नमो नमः।।

पावन परम उदार तुम प्यारे पथिक आधार तुम।
तुम सर्वमय सब ठाम हो नारायणाय नमो नमः।।

————

मानव की सफलता है प्रभु प्रेम के पाने में।
सत्संग सहायक है प्रज्ञा के जगाने में।।
यह तन तो साधनों का है धाम मिला सबको।
अब देर न हो साधन को शुद्ध बनाने में।।
साधन को साधे रहने से सिद्धि मिला करती।
साधन न साध पाना ही हेतु गिराने में।।
हम सबकी सुनते आये प्रभु की नहीं सुनते हैं।
सुख मानते हैं अपनी ही सबको सुनाने में।।
भगवान के मिलने में दूरी है न देरी है।
देरी है मोह ममता अभिमान मिटाने में।।
प्रभु नित्य प्राप्त ही हैं सद्गुरु ने बताया है।
हम ''पथिक'' स्वयं खोज लगाने में।।

————

अहंकृति के पीछे ईश्वर कृति को देखो

ध्यान से देखो! यह प्रकृति परमेश्वर की कारीगरी है, संसार में सर्वत्र इसी प्रभु का चमत्कार है।

हमें समझाया गया है कि जब कोई महात्मा हाथ से कोई पुष्प अथवा फल प्रकट कर दे तब तुम अपने नित्य सुलभ परमेश्वर के चमत्कार को देखो कि किसी वृक्ष में जहां फूल का पता नहीं होता वहीं फूल प्रकट हो जाता है वृक्ष में जहां फल नहीं होता वहां अकस्मात् फल प्रकट दीखने लगता है। प्रकृति में चारों ओर कितना चमत्कार चल रहा है। एक नन्हा सा बीज है मिट्‌टी में पड़ने के पश्चात उसमें वृक्ष की उत्पत्ति हो जाती है। विशाल वृक्ष की पत्ती की नोक को देखो, उसमें कहां से रंग चढ़ रहा है। दिन रात एक क्षण रुके बिना, सारे वृक्ष में रस दौड़ रहा है, फल लग रहे हैं, अर्थात जो कभी नहीं दीखता है वह अचानक दीखने लगता है; यह अद्‌भुत चमत्कार है। यह सारी प्रकृति ही परमात्मा का पूर्ण चमत्कार है।

कोई चमत्कारी महात्मा हाथ फेर कर विभूति लगाकर किसी किसी का रोग शान्त कर देते हैं उनको लोग भगवान मानने लग जाते हैं लेकिन उस भगवान का चमत्कार भूले रहते हैं जिससे आरम्भ से इतना अच्छा रोग रहित शरीर मिला है।

ध्यान से देखने पर प्रत्येक वस्तु में चमत्कार दीखता है। कीट पतंग पशु पक्षी मनुष्य की आकृतियों को ध्यान से देखने पर चमत्कार अनन्त हैं।

ध्यान से देखने के कारण ही आज का भौतिक विज्ञान वेत्ता अद्‌भुत चमत्कारों का परिचय दे रहा है।

भारत के सिद्ध सन्त योगी जनों द्वारा जो चमत्कार घटित होते हैं वह ध्यान से देखने के ही परिणाम हैं।

जो बाहर देखने वाले ध्यानी को भौतिक विज्ञानी कहते हैं, भीतर देखने वाले ध्यान योगी को अध्यात्म विज्ञानी कहते हैं।

यह गुरु सम्मति है कि तुम बाहर जो कुछ देखो वह ध्यान से देखो और आंख बन्द करके भीतर जो कुछ भी हो रहा है उसे ध्यान से देखते रहो। करो कुछ भी नहीं। आंख बन्द करने पर अंधेरा प्रतीत होता है तो उसे ही ध्यान से देखते रहो। कुछ और दीखे, मूर्ति दीखे या प्रकाश दीखे ऐसा विचार भी न करो। देखने की उत्सुकता है तो देखने वाला मैं कौन हूं? कहां हूं? कैसा हूं? यह प्रतीक्षा करो। ध्यान से स्वास के आने जाने को देखो धड़कन को देखो नाभि के स्पंदन–गति को देखो, मन की चंचलता को देखो। प्रत्येक वेदना को देखो पुनः पुनः देखने वाले स्वयं की खोज करो।

किसी प्रकार का चमत्कार देखकर किसी भी वस्तु अथवा किसी व्यक्ति को चमत्कार दिखाने वाला मानकर उसके रागी बनने से बचते रहो। समस्त चमत्कार एक अखण्ड अनन्त परमात्मा का ही जानो और उस परमात्मा को कहीं दूर न मानकर अपने से अभिन्न सत्ता के स्वरूप में अनुभव करो।

परमगुरु भगवान का निर्णय है कि ध्यान योग से युक्त योगी सर्वत्र समभाव से आत्मा को सर्व भूतों में देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मा रूप परमात्मा को देखता है

उसके लिये परमात्मा कभी अदृश्य होता ही नहीं और न ही परमात्मा से ऐसा देखने वाला ही अदृश्य होता है। (गीता 6/29–30)

जो पुरुष विनाशी देहों में अविनाशी परमेश्वर को देखता है (सभी नाम रूपों में) समस्थित देखता है वही देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति द्वारा होते हुए देखता है और अपने को अकर्ता देखता है वही (यथार्थ) देखता है। (गीता 13/29)

जो लोग तीर्थों में मन्दिरों में भगवान के दर्शनों के लिये जाते हैं उन्हें भगवान के उपरोक्त निर्णय पर विचार करना चाहिये। भगवान का नाम जपते हुए, संकीर्तन करते हुए, पूजा पाठ ध्यान करते हुए जो भगवान के आदेश निर्देश उपदेश पर विचार नहीं करते ध्यान से अज्ञान को नहीं देखते वह ज्ञान से मूढ़ ही हैं।

यह गुरु निर्णय हैः– तुम संयोग में ही वियोग को देखो और वियोग में उस परमात्मा का स्मरण करो जिससे नित्य योग है तभी उसका बोध होगा। संयोग की आसक्ति में ही वियोग का दुःख होता है।

अज्ञान में जो अपना नहीं है उसे अपना मानते हैं इसी आत्मीयता के कारण वियोग का दुःख भोगना पड़ता है। दुःख की निवृत्ति के लिये सुख की आशा का त्याग अनिवार्य है। सुख का त्याग नहीं सुख की आसक्ति छोड़ना है। अहंकारवश जिससे ममता होती है उसी से सुख की आशा होती है। जितनी देर तुम किसी वस्तु व्यक्ति के संगी नहीं बनते हो उतनी देर स्वाधीनता का अनुभव करो। अपना मानने से अर्थात् आत्मीयता से ही संग होता है, संग से ही स्मृति रहती है। स्मृति में ही सत्य की विस्मृति है। जो

नित्य निरन्तर है उसके प्रति आत्मीयता से, उसी की अखण्ड स्मृति रह सकती है। स्मृति मात्र से ही परमात्मा ही अपने हैं, सभी प्रकार की शक्तियाँ परमात्मा की हैं ऐसा निश्चय दृढ़ होने पर निष्काम भाव से कर्तव्य पालन सहज हो सकता है। कर्तव्य पालन से शान्ति रहती है। परमात्मा की शरण में अपने को देखते रहने से अहंकार नहीं रहता है, दूसरों से सुख की आशा करते हुए तुम स्वाधीन स्वतन्त्र नहीं हो सकते, क्षोभ और अशान्ति से नहीं बच सकते। इसीलिये आशा का त्याग करो परन्तु तुम्हारे साथ पशु राक्षस दानव की वृत्तिशक्ति त्याग करने नहीं देगी। अतः सावधानी से आत्म निरीक्षण करो।

————

परमात्मन् सुखधाम मेरे अन्तर्यामी।
सब विधि तुम्हें प्रणाम मेरे अन्तर्यामी।।
इस जड़ तन में जीवनेश तुम, अनुपम ललित ललाम, मेरे अन्तर्यामी।
हृदयबिहारी तुम दुखहारी, प्रेम रूप निष्काम मेरे अन्तर्यामी।
जय अखिलेश्वर जयति महेश्वर, ध्याऊँ आठों याम मेरे अन्तर्यामी।
भव भय भंजन असुर निकन्दन, तुम्हीं राम तुम्हीं श्याम मेरे अन्तर्यामी।
तुम सुखराशी स्वयं प्रकाशी, हो व्यापक सब ठाम, मेरे अन्तर्यामी।
अविचल निर्भय हे करुणामय, पथिक न भूले नाम मेरे अन्तर्यामी।

————

श्रद्धा को देखो

हम सभी साधक भगवान को मानते हैं। भगवान ने ही श्रद्धा के तीन भेद बताये हैं।

प्रथम सात्विकी श्रद्धा उसे कहते हैं जिसके द्वारा लोग देवी देवताओं को पूजते हैं। दूसरे राजसी श्रद्धा वाले वे लोग हैं जो यक्ष राक्षसों की पूजा करते हैं। तामसी श्रद्धालु वे हैं जो प्रेतों भूतगणों को पूजते हैं। यह लोग श्रद्धा की अपूर्णता को नहीं जान पाते। निष्काम सात्विक श्रद्धावान, जो केवल सत्य परमात्मा भगवान के ही प्रेमी हैं वह बहुत कम पाये जाते हैं।

ऊपर देखने में अनेकों साधक भगवान की ही भक्ति और संसार के बन्धनों से मुक्ति अथवा शान्ति चाहने वाले दीखते हैं परन्तु भीतर कहीं धन की, कहीं संयोग भोग की चाह और कहीं मान प्रतिष्ठा पदाधिकार की चाह प्रबल रहती है। ऊपर के त्याग को तथा घोर तप को एवं शब्दों द्वारा पाण्डित्य को अथवा शास्त्रीय ज्ञान को देखकर प्रायः सभी सम्मोहित हो जाते हैं परन्तु भीतर की तमोगुणी एवं रजोगुणी प्रवृत्ति को कोई विवेकी सतोगुणी ही देख पाते हैं।

इस प्रकार के उपरोक्त निर्णय द्वारा हम साधकजनों को दूसरों के विषय में गुण दोष की मीमांसा न करके विनम्र रहकर अपना ही निरीक्षण करना चाहिये। हम सबको यही देखना चाहिये कि कितनी मात्रा में सात्विक श्रद्धा है और कितने लक्षण राजसी तथा तामसी श्रद्धा के हैं।

श्रद्धावान साधु उसी को कहा जाता है जो निष्कपट हो सरल हो गुरु आज्ञा पालन में तत्पर रहता हो।

जो श्रद्धावान नेत्रों से रूप देखने को ही दर्शन मान लेते है वह बाहरी रूप में ही अटक जाते हैं। वाह्य आकृति अर्थात् रूप और सत्स्वरूप में जो अन्तर है, उसे ध्यान से होने वाले ज्ञान में ही कोई साधन जान पाते हैं।

अर्जुन, भगवान कृष्ण के दर्शन नेत्रों द्वारा, अनेकों वर्षों तक करते रहे परन्तु तत्वतः भगवान के सत्स्वरूप का दर्शन तभी कर सके जब दिव्य चक्षु, ज्ञान चक्षु खुले। ज्ञान चक्षु उन्हीं साधकों के खुलते हैं जो सतोगुणी श्रद्धा सम्पन्न होते हैं। सात्विक श्रद्धा उन्हीं में जाग्रत होती है जो अहंकार की जड़ता कठोरता दरिद्रता की परिधि को पार कर लेते हैं, उन्हीं के लिये कृपा का द्वार खुला मिलता है।

जब तक अहंकार, बुद्धि के द्वारा संशय, तर्क, कुतर्क करता रहता है तब तक श्रद्धा स्थिर नहीं होती। जब बुद्धि थककर मौन हो जाती है तब श्रद्धा स्थिर हो पाती है। श्रद्धा के साथ ही उदारता सहिष्णुता नम्रता सरलता तथा आज्ञा पालन में तत्परता इन्द्रिय संयम आदि दैवी गुण जाग्रत रहा करते हैं, इसीलिये श्रद्धावान ही वह ज्ञान प्राप्त करता है, जिसमें यथार्थ दर्शन हो पाते हैं।

तुम बुद्धि युक्त होकर ठहरो और श्रद्धा का निरीक्षण करो।

श्रद्धा का सम्बन्ध जब तक नित्य सत्य आत्मा परमात्मा के ज्ञान से नहीं होता तब तक मन्दिरों में या सन्तों के दर्शन करते हुए, कुछ दान पुण्य करते हुए, कथा पुराण सुनते हुए भी साधना का, सत असत का, नित्य अनित्य का,

तथा कर्तव्य का और स्वयं का बोध नहीं होता। मूर्ख अहंकार, अपनी मान्यता एवं जानकारी से इतना सन्तुष्ट रहता है कि किसी की सुनता ही नहीं, अपनी ही धुनता रहता है। इसी प्रकार मूढ़ व्यक्ति सुनता है और समझता भी है परन्तु उसका मन जब तक तन में, धन में, परिवार में तथा पद में, बड़प्पन के गर्व में अटका रहता है और जो कुछ करना चाहिये उसे पूर्ण नहीं कर पाता वह अपनी आदतों को नहीं बदल पाता। वह कामना वासना पूर्ति का ही पक्ष लेता है।

भगवान का निर्देश है कि तुम धीरे धीरे सत्कर्म का पुण्यकर्म का अभ्यास बढ़ाओ। जो कुछ लेने का अभ्यास है, वही देने का अभ्यास बढ़ा लो। किसी से मान लेते हो तो तुम भी किसी को मान दो। जिस प्रकार तुम प्यार चाहते हो उसी प्रकार प्यार चाहने वाले को प्यार दो। जिस प्रकार तुम्हें अधिकार प्रिय है उसी भांति दूसरों को प्रिय लगने वाले अधिकार को देते रहो। जिस प्रकार तुम दूसरों से लाभ चाहते हो उसी प्रकार अपने से लाभ चाहने वालों को लाभ पहुंचाओ।

न्याय दर्शन का निर्णय है कि जन्म से दुःख का आरम्भ होता है और जन्म होता है प्रवृत्ति से। इस प्रवृत्ति के वश में होकर जीव कर्म करता है। कर्म का फल भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है। प्रवृत्ति का कारण है राग द्वेष मोह, यह राग द्वेष मोह जीव के मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। इसीलिये मिथ्या ज्ञान अर्थात् अज्ञान को नष्ट किये बिना जीव के दुखों की निवृत्ति नहीं होती। और मिथ्या ज्ञान का नाश बिना तत्वज्ञान के नहीं हो सकता है। (न्यायसूत्र 1/1/2)

गीता में उन्हीं को ज्ञानी कहा है जो तत्वदर्शी हैं और तत्वदर्शी ज्ञानी से ही श्रद्धा तत्परता संयम सहित उपदेश सुनने की सम्मति दी है।

आज हम अनेकों सुसंस्कारी साधक श्रद्धालु तो हैं परन्तु यह सावधानी प्रायः नहीं देखी जाती कि श्रद्धा–किस पर स्थिर करनी चाहिये और श्रद्धा किस लाभ के लिये करनी चाहिये? हम अनेकों श्रद्धालु किसी सन्त महात्मा में श्रद्धा स्थिर करने के पश्चात उससे सांसारिक लाभ चाहते हैं। हम श्रद्धालुओं के भीतर यदि लोभ है तो धन चाहते हैं, मोह है तो प्रिय संयोग चाहते हैं, काम है तो इन्द्रियों के अनुकूल सुखापभोग चाहते हैं, मान की तृष्णा है तो पदाधिकार चाहते हैं, जिससे ममता है उसके रोग की निवृत्ति चाहते हैं। यह चाह ही योगानुभूति में बाधक हैं। कोई विरले ही साधक अपने श्रद्धेय से आत्मज्ञान चाहते हैं, अथवा आत्म कल्याण एवं जीवन निर्माण के लिये विज्ञान चाहते हैं। इसीलिये साधक श्रद्धालु लाखों मिलते हैं परन्तु साधना में सिद्धि, संसिद्धि, सद्गति, परमगति, परमशान्ति को विरले ही प्राप्त कर पाते हैं।

पुरुष की इच्छा में तथा श्रद्धा में एवं उसके ज्ञान और प्रेम में जब तक विनाशी परिवर्तनशील नाम रूप वाले पदार्थ भरे रहते हैं तब तक वह सुख के अन्त में दुःख तथा संयोग के अन्त में वियोग का भोगी बनता रहता है। अनेकों जन्मों की यात्रा करते हुए हम साधकों की बुद्धि में इतनी जाग्रति हो गई है कि अब हम लोग दुख से तथा बन्धनों से अशान्ति से छूटना चाहते हैं तब प्रभु कृपा से सन्त वचन शास्त्र वचन गुरु सुलभ हो रहे हैं, इन्हीं वचनों द्वारा हम जान रहे हैं कि जिस प्रकार संग के प्रभाव से हमारी इच्छा तथा श्रद्धा अथवा हमारा ज्ञान एवं प्रेम विनाशी से सम्बन्धित है उसी प्रकार

संत–संगति के प्रभाव से अविनाशी परमात्मा अर्थात् ब्रह्म से सम्बन्धित हो सकता है।

हमारी प्रीति मिट्टी के खिलौनामय हो सकता है वही प्रीति भगवानमय गुरुमय परमात्मामय ब्रह्ममय हो सकती है।

जिसकी इच्छा अथवा श्रद्धा अथवा जिसका ज्ञान एवं प्रेम विनाशी जगत के पदार्थों मय बन जाता है वही जीवात्मा है और वही इच्छा श्रद्धा एवं ज्ञान और प्रेम जब परमात्मा मय हो जाता है वही महात्मा कहा जाता है।

———

अब और कहां जायें प्रभु आपके गुण गायें।
संसार में सब कुछ के हे नाथ प्रकाशक तुम।।
शरणागतों के रक्षक हो विघ्न विनाशक तुम।
संगी जनम मरण के सर्वस्व तुम्हें पायें।।
जब तक कि तुममें रहकर तुमसे बने विमुख हैं।
तब तक सुखों के पीछे मिलते महान दुख हैं।।
इस दुर्दशा से हे हरि अब आप ही बचायें।
हे हृदय निवासी तुम सुधि ले रहे जन–जन की।।
कुछ कहने के पहले ही सब जानते हो मन की।
तुम से ही पूरी होती हैं मेरी कामनायें।।
हे दीनबन्धु मेरा अब जिस प्रकार हित हो।
बतलाओ वही साधन जिससे प्रशान्त चित्त हो।।
मुझ पथिक के हृदय का सब भेद भ्रम मिटायें।

———

अधम उद्धारने दीन दुख टारने, प्रेम के वश सदा प्रभो आते तुम्हीं।।

परम मंगल करन सर्व संकट हरन रूप अनुपम अनेकों बनाते तुम्हीं।
कोई कितना ही पापी अधम क्यों न हो, छाया अज्ञान का घोर तम क्यों न हो।
मोह निद्रा में सोते हुए जीव को, मुक्ति से हे दयामय जगाते तुम्हीं।।
याद कर प्रेम से या कि भय से तुम्हें जब पुकारा किसी ने ह्रदय से तुम्हीं
भूलता है तुम्हें जीव अभिमान में, लीन रहता सदा असत के ध्यान में।
अपने हित के वचन मानता जब न मन, पतित होने पे उसको उठाते तुम्हीं
आपका योग तो नित्य ही प्राप्त है आपकी शक्ति ही सब कहीं व्याप्त है
जो पथिक प्रेम से चाहता है तुम्हें उसे मिलने का साधन दिखाते तुम्हीं।।

———————

वे धन्य हैं श्रीमान जो भगवान की सुनते हैं।
वे बड़े भाग्यवान, जो भगवान की सुनते हैं।।
भगवान की न सुनकर जो ज्ञानी बन रहे हैं।
जो त्यागी तपस्वी योगी ध्यानी बन रहे हैं।
जो भक्त विरागी धर्मी दानी बन रहे हैं।
जो हैं नहीं वह होने के अभिमानी बन रहे हैं।
उनको ही होता ज्ञान जो भगवान की सुनते हैं।।वे धन्य0।।
जब तक इन्द्रियों से विषयों का भोग होता।
भोगी के तन में मन में अनचाहा रोग होता।
संयोग जिसका होता उसका वियोग होता।
जो नित्य निरन्तर है उसका ही योग होता।
उनको ही सुलभ ध्यान जो भगवान की सुनते हैं।।वे धन्य0।।
यह जीव जन्मते ही परिवार की सुनता है।
कुछ प्यार की सुनता है तिरस्कार की सुनता है।
अभिमानी बनके अपने ही अधिकार की सुनता है।
भगवान से विमुख होकर संसार की सुनता है।
सन्मुख वही विद्वान जो भगवान की सुनते हैं।।वे धन्य0।।
भगवान की जो सुनते वह पाप से बच जाते।

निर्द्वन्द्व रहते जग में सन्ताप से बच जाते।
वह व्यर्थ प्रलाप से विलाप से बच जाते।
वह प्रेम से भरे हुए, अभिशाप से बच जाते।
वह पथिक सावधान जो भगवान की सुनते हैं।।वे धन्य0।।

दया और कृपा को देखो

प्रभु की दया और कृपा का स्मरण न भूलो

हमें सावधान किया गया है कि जहां कहीं तुम्हारी कामना पूर्ति हो रही है, जब तुम्हें इच्छानुसार धन मिल रहा है, सन्मान मिल रहा है, पद प्रतिष्ठा प्राप्ति का सुख मिल रहा है तब लोभ मोह अभिमान आदि आसुरी वृत्तियों के प्रभाव से प्रभु से विमुख न होकर सरलता पूर्वक प्रभु की दया का अनुभव करो। किसी प्रकार का सुख भोगते हुए दया सिन्धु प्रभु का स्मरण करते रहो, बार–बार प्रभु की दया को सोचकर मन ही मन धन्यवाद देते रहो।

तुम यह भी देखते रहो कि बिना मांगे ही जब यह शरीर मिला है, बिना मांगे ही हाथ पैर आंख कान, ठीक–ठाक मिले हैं, बिना मांगे ही भूख प्यास लगती है और खाये पिये हुए के बिना कहे ही पाचन होता है, शरीर के भीतर बिना कहे ही हमारे अनजाने ही रक्त बन रहा है स्वास चल रही है इतना अधिक कुछ हो रहा है कि हम उसे जानते ही नहीं हैं।

जब बिना मांगे ही इतना मिला है तब अब मांगने की आवश्यकता ही क्या है? आगे भी जो मिलना उचित है वह मिलता ही जायेगा।

हम साधकों को सावधान होकर देखना है कि प्रभु की कृपा से हम क्या–क्या कर रहे हैं और आगे भी कृपा का आश्रय लेकर क्या क्या करना है?

हम जहां तक भगवान का नाम स्मरण कीर्तन तथा सत्कथा श्रवण आदि शुभ करते हैं यह प्रभु की कृपा से ही करते हैं। जब कभी हमें सन्त का संग सुलभ होता है सत्चर्चा सुनते हैं––यह भी प्रभु की कृपा है। जब कभी हमें अपने दोषों का दुःख पूर्वक ज्ञान होता है यह भी प्रभु की कृपा है। जिस अध्ययन से हम सात्विक तप त्याग दान ध्यान के लिये प्रेरित होकर दृढ़ संकल्प करते हैं––यह भी प्रभु की कृपा है। कभी–कभी अकस्मात् बिना प्रयास के ही ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान को बढ़ाने वाला, अपने भीतर के दोषों दुर्विकारों को दिखाने वाला ग्रन्थ पढ़ने को मिल जाता है तब यह भी प्रभु की कृपा है।

जब कभी हमारे भीतर ध्यान में, ज्ञान में जप सुमिरन चिन्तन में, तथा दान में स्वाध्याय आदि में बाधक आलस्य प्रमाद अथवा संग दोष का ज्ञान होता है और इन दोषों के त्याग का संकल्प होता है तब प्रभु की अहेतुकी कृपा है। जब कभी हमारे सुखोपभोग में बाधा पड़ती है अथवा हमसे वह छूट जाता है, जिसे हम छोड़ नहीं पाते, तब समझना चाहिये––यह भी प्रभु की कृपा है।

जहां तक हम दुखी होने के पश्चात सुखी होते हैं वहां प्रभु की दया का स्मरण करना चाहिये। जहां कहीं सुखी होने के पश्चात् किसी प्रकार के अभाव से दुखी होते हैं तब अपने अहंकार की अज्ञान वश दरिद्रता को देखना चाहिये।

कामना पूर्ति का सुख तो संसार के सभी मनुष्यों को मिल रहा है, परन्तु सुख के अन्त में आने वाले दुख से बचने का उपाय वही जान पाता है जो

प्रभु की दया के साथ साथ प्रभु की कृपा से ही प्रभु की कृपा का अनुभव करता है और कृपा का आदर करता है। परमात्मा प्रभु की दया कृपा सभी पर है परन्तु सभी मनुष्यों को उसका ज्ञान नहीं है।

ज्ञान में न देखने से ही अज्ञान रूपी अन्धकार में अहंकार की यात्रा चलती रहती है।

अपने सीमित ज्ञान से ही अहंकार सन्तुष्ट होना चाहता है परन्तु अहंकार को ज्ञान में देखे बिना संसार में अहंकार पूर्ण तृप्त सन्तुष्ट नहीं हो पाता।

अहंकार को देखना उसी साधक के लिये सम्भव है जो कृपा की अनुभूति के लिये सजग है।

हमें सन्त सद्‌गुरु ने समझाया है कि भगवान के दर्शन करने वाले लाखों जन भगवान की कृपा का अनुभव न कर सकने के कारण सुखी होते हुए अन्त में दुख भोग से नहीं बच सके और अपने को स्वतन्त्र मानते हुए भी वस्तु अथवा व्यक्ति की दासता से अर्थात मोह लोभ ममता आसक्ति से मुक्त न हो सके लेकिन अर्जुन धर्मराज आदि पाण्डव, विदुर भीष्म आदि अनेकों बुद्धि योगी जो भगवान की कृपा को समझ सके वे ही भक्त मुक्त शान्त स्वस्थ हो सके।

यह गुरु सन्देश है कि आज भी तुम भगवान को मानते ही, भगवान का स्मरण करते ही गुणगान करते ही, तुम्हें भगवान के दर्शन भले ही न हो रहे हों परन्तु यदि तुम भगवान की दया का स्मरण करते रहो और इस प्रकार अपने हित की, अथवा बन्धनों से मुक्ति एवं भक्ति की चर्चा सुनते हुए भगवान

की कृपा का अनुभव करते हुए अपने को कृतज्ञ बना लो, विनम्र बना लो तो भगवान की कृपा से दुखों से बन्धनों से मुक्त और अपने में ही भगवान का अनुभव करते हुए भक्त हो सकते हो, क्योंकि भगवान ही आत्मा होकर विद्यमान हैं। आत्मा अनुग्रह स्वरूप है।

भगवान ने अर्जुन को समझाया है कि दैवी सम्पदा को धारण करने वाले मुक्त होते हैं और आसुरी सम्पदा वाले बन्धन में रहते हैं। तुम दैवी सम्पदा को पूर्ण कर लो।

————

कल्याण कृपा से ही होता

भगवान हमारे जीवन का कल्याण कृपा से ही होता।
भव–दुःख–विनाशक आत्मज्ञान–विज्ञान कृपा से ही होता।।
जिससे सब दोष दिखा करते, जिससे कि असुर–दानव डरते।
उस सद्विवेक का प्रेम सहित सन्मान कृपा से ही होता।।
अच्छे दिन बीते जाते हैं, गुरुजन सब विधि समझाते हैं।
भोगस्थल से योगस्थल में प्रस्थान कृपा से ही होता।।
शीतलता जिससे आती है, सारी अतृप्ति मिट जाती है।
वह नित्य प्राप्त है शान्ति–सुधा पर पान कृपा से ही होता।।
यद्यपि हैं नित्य सुलभ साधन सब, साध न पाते साधक जन।
जो जड़मय है, वह चिन्मय हो, यह ध्यान कृपा से ही होता।।
वह कृपा निरंतर रहती है, कुछ भी न किसी से चहती है।
हम 'पथिक' उसे देखें, ऐसा उत्थान कृपा से ही होता।।

———————

सबके परमाधार यहीं हो कृपा हुई तब जान सके हम।।
तुम महान तम कण मय भी तुम, तुम शाश्वत हो क्षण मय भी तुम।
लिये विश्व विस्तार यहीं हो कृपा हुई तब जान सके हम।।
जड़ तन मन के जीवन हो तुम, नित्य सत्य आनन्दघन हो तुम।
सर्व कला भण्डार यहीं हो कृपा हुई तब जान सके हम।।
अचल अनन्त अनघ अविंकारी, भक्ति भाव वश लीला धारी।
दाता परम उदार यहीं हो कृपा हुई तब जान सके हम।।
चलता तुममें यह जग सारा तुमसे बहती जीवन धारा।
अनुपम, प्रेमसागर यहीं हो कृपा हुई तब जान सके हम।।
कभी पथिक से भिन्न नहीं तुम जहां रहें हम नित्य वहीं तुम।
एक अनन्त अपार यहीं हो कृपा हुई तब जान सके हम।।

दर्शनीय कौन ?

जो देने में समर्थ है वही दर्शन के योग्य होता है। देने में वही समर्थ है जो लेने की कामना से रहित है जो पूर्ण ज्ञान, पूर्ण प्रेम, पूर्ण शक्ति तथा सर्व कला, एवं सर्व सद्‌गुण से सम्पन्न हैं, जो सबका है, सर्वदा है, सर्वत्र है उसी को सत चित्त आनन्द मय परमात्मा कहते हैं। लेकिन परमात्मा का दर्शन सब नहीं करना चाहते।

दर्शन उसके भी किये जाते हैं जो पूर्ण परमात्मा के अखण्ड ज्ञान श्रोत से, तथा शक्ति श्रोत से, एवं प्रेम श्रोत से सम्बन्धित और उसी से निरन्तर युक्त है, मिला हुआ है। उसी को सन्त, महापुरुष, महात्मा, भक्त अथवा योगी कहते हैं।

दर्शन उन मूर्तियों के भी किये जाते हैं जिन मूर्तियों के माध्यम से अदृश्य देवताओं से पूजा पाठ प्रार्थना मन्त्र जाप हवन उपवास आदि के द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है।

विश्वास श्रद्धा के द्वारा ही देवताओं से मानसिक सम्बन्ध जुड़ता है। श्रद्धाहीन मनुष्य नेत्रों से मूर्ति भले देखता रहे लेकिन दर्शन का फल श्रद्धावान को ही प्राप्त होता है श्रद्धा की न्यूनाधिकता के अनुपात से ही फल प्राप्ति में न्यूनाधिकता हुआ करती है।

भारत देश में दर्शन करने वालों के द्वारा जितना अधिक ईश्वर विश्वास का परिचय मिलता है उतनी ही अधिक मात्रा में लाखों दर्शकों की मूढ़ता का परिचय मिलता हे।

दर्शन का भाव जाग्रत होना मानव आकृति में मानवता की जाग्रति का आरम्भ है और यथार्थ दर्शन हो जाना मानवता में दिव्यता का अवतरण है।

सनातन धर्म की ही यह विशालता है कि बाल्यकाल से ही माता के प्रति पूज्य भाव की जाग्रति की जाती है। परन्तु अज्ञानवश रूप का ग्रहण होता है दर्शन नहीं। दर्शन में ग्रहण ही बाधक है जहां दर्शन करने वाला अटक जाता है वहीं मूढ़ बनकर भोगी हो जाता है जहां पकड़े हुए, ग्रहण किये हुए का भोग है वहीं मूढ़ता है, अज्ञान है और जहां कहीं ग्रहण किये गए को जानने का प्रयास है वहीं ध्यान द्वारा ज्ञान में दर्शन का द्वार खुलता है।

दृष्टि की अपूर्णता दर्शन में बाधक बनती है। भगवद कृपा से जिसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है वहीं सम्यक दर्शन का अधिकारी होता है।

एक बालक आंखों द्वारा माता पिता के रूप को देखता है और मन उसी रूप में अटक जाता है––यही ग्रहण है। यह ग्रहण ही दर्शन की यात्रा में बाधक बनता है। किसी बालक को यह समझाने वाले माता पिता प्रायः नहीं मिलते कि माता, पिता, पूज्यदेव क्यों है? उनमें देवत्व क्या है? जड़त्व क्या है।

इस पुस्तक के पाठक रूप में प्रिय आत्मन्! यदि आपको इस तरह के विचार प्रिय लगते हैं असत्य नहीं प्रतीत होते हैं और आप भी दर्शन के प्रेमी हैं, तब आप अपना निरीक्षण कीजिये? देखिये? जहां कहीं दर्शन करते हैं वहां परमात्मा के दर्शन होते हैं, या प्रकृति के दर्शन होते हैं या आकृति के दर्शन होते हैं? क्योंकि नेत्रों द्वारा आकृति ही देखी जाती है। आकृति बनती है अथवा बनाई जाती है वह बिगड़ जाती है, अतः आकृति के दर्शन ही सत्य के दर्शन नहीं है।

बुद्धि द्वारा प्रकृति के दर्शन होते हैं। प्रकृति परिवर्तनशील है, क्षण क्षण रूपान्तर होता रहता है।

सज्जनों के संग एवं पवित्र संस्कारों से प्रेरित होकर अथवा दैवी भाव एवं श्रद्धा की जाग्रति से ही दर्शन का आरम्भ होता है। प्रथम माता के साथ दर्शन भावना जागती है। प्रातः उठते ही साधु हृदय माता को पिता को प्रणाम करते हैं। वयोवृद्ध सम्बन्धी जनों के प्रति दर्शन की भावना रहती है, पत्नी पति के दर्शन करती है, सास स्वसुर भी दर्शनीय होते हैं।

क्रमशः दर्शन करते करते जैसे जैसे दृष्टि शुद्ध होती जाती है वैसे वैसे दर्शन की व्याप्ति बढ़ती जाती है, एक समय ऐसा आता है कि सत्यदर्शी को सब कुछ ब्रह्म ही दीखने लगता है भक्त को सबमें भगवान दीखने लगता है।

'सीय राम मय सब जग जानी। करहुं प्रनाम जोरि युग पानी।।'

भगवान का निर्णय है कि जगत में जो कुछ भी ऐश्वर्य युक्त तथा माधुर्य पूर्ण है, जो कुछ भी कान्तिमय है, आकर्षक है, शक्ति युक्त है, उसे परमेश्वर के अंश से ही उत्पन्न जानो। (गीता 10/41)

ज्ञान में देखने की दृष्टि खुलने पर सारा जगत परमात्मा की विभूति दीखने लगता है।

शिष्ट भाषा में मानने को ग्रहण और जानने को दर्शन कहते हैं। ग्रहण कहते हैं पकड़ लेने को अथवा मन से मान लेने को। मानना पकड़ना अन्धकार में होता है और पकड़े हुए को देखना प्रकाश में होता है। अज्ञान ही अन्धकार है, ज्ञान ही प्रकाश है।

जिस प्रकार अन्धकार में दृष्टि काम नहीं करती, हाथ पैर काम करते हैं उसी प्रकार अज्ञान में बुद्धि रूपी दृष्टि काम नहीं करती, ज्ञानेन्द्रियों सहित मन काम करता है।

जिस प्रकार हाथ, वस्तु को पकड़ता है, ग्रहण करता है, देखने का कार्य नेत्र दृष्टि द्वारा होता है उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों सहित मन सुखद दुखद विषयों को ग्रहण करता है, परिणाम को देखने के लिये ज्ञान रूपी प्रकाश में बुद्धि–दृष्टि की आवश्यकता है और दर्शन के लिये प्रज्ञा दृष्टि की अपेक्षा रहती है। प्रज्ञा दृष्टि अन्तर ध्यान से खुलती है।

ग्रहण लगने पर सूर्य चन्द्र का प्रकाश ढक जाता है उसी प्रकार संसार के ग्रहण के कारण आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश बुद्धि के आगे ढक जाता हे। ज्ञान में ग्रहण छूट जाने पर आत्मा का आलोक अनाव्रत हो जाता है।

जिस प्रकार तुम दूसरों के द्वारा नहीं चाहते दुख नहीं चाहते उसी प्रकार तुम भी दूसरों के साथ वह नहीं करें जो दूसरों से नहीं चाहते, इसके लिये अवसर पर सावधान रहना होगा। देने के अवसर खोजते रहना होगा। सत्संग न मिलने पर एकान्त में मौन शान्त रहकर अपना निरीक्षण करते हुए अध्ययन में समय देना होगा। पशु ऐसा नहीं कर सकते। तुम मानव हो। मुझे यह भी समझाया गया है कि तीर्थ यात्रा तथा कथा श्रवण देवी देवताओं एवं भगवान की मूर्ति के दर्शन करते हुए जब कभी पुण्य संचित होते हैं तब किसी सन्त महात्मा में श्रद्धा दृढ़ होती है, श्रद्धा होने पर ही सन्त दर्शन से मन सन्तुष्ट होता है और नित्य दर्शन की इच्छा प्रबल रहती है, तुम्हारी भी जब दर्शन की इच्छा प्रबल हो तब बाह्य दर्शन के ही सुख में न अटक कर सन्त के सत्स्वरूप का पता

लगाओ। दर्शन है या आपका और भी कोई स्वरूप है। सन्त से ही पूछ लेना कि देह का दर्शन, आपका यदि तुम रूप दर्शन में ही सन्तुष्ट होते रहोगे तो सत्स्वरूप को जान पाओगे।

मन में यह महान शक्ति है, जो भावना को साकार बनाती है अर्थात् दिव्य रूप में दर्शित होती है। मन एक विभूति है।

दर्शन शब्द का प्रयोग कभी क्षुद्र के प्रति, लघु के प्रति, दोष युक्त के प्रति, अर्थात् कामी, क्रोधी, लोभी, अभिमानी, क्रूर कर्मी, अधर्मी के प्रति नहीं किया जाता।

जो महान है, विराट है विश्व में व्याप्त जिसका माधुर्य है, प्रत्येक आकर्षक वस्तु में चमकता हुआ जिसका अकथनीय सौन्दर्य है और संसार में सभी को झुकानेवाला सभी को दमन करने वाला जिसका अनन्त ऐश्वर्य है तथा कभी समाप्त न होने वाला जिसका असीम दान है, जिसकी दया, करुणा, कृपा का भण्डार, लेने वालों की क्षमता अनुसार सदैव खुला है, जो अखण्ड ज्ञान है, अगाध प्रेम है, वही एकमात्र ज्ञान दृष्टि वालों के लिये दर्शनीय है। यदि जगत में कोई भी वस्तु अथवा व्यक्ति, देखने योग्य आकर्षक है शान्तिप्रद है तो उसी के अंश मात्र, कण मात्र, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य धारण करने के कारण ही दर्शनीय है वन्दनीय है।

सन्त महात्मा, जीवनमुक्त, ज्ञानी, विज्ञानी सिद्ध महापुरुषों के दर्शन, श्रद्धालु जन इसीलिये करना चाहते हैं क्योंकि उनमें परमात्मा ही ज्ञान, प्रेम आदि वैशिष्ठ अभिव्यक्त हो रहा है। जो कुछ भी आकर्षक है दर्शनीय है वह परमात्मा की ही विभूति है।

तुम किसी भी विनाशी आकृति में और परिवर्तन होने वाली प्रकृति में मन से न अटको न ही अपने संगियों को अटकाओ। स्वयं जानो और देखो। दूसरों को भी जनाओ, समझाओ और सत्य दर्शन की प्रेरणा दो। इसी में अपना हित है।

भगवान के मतानुसार जब तक हम अज्ञान में नेत्रों से दीखने वाले रूप को सत्य मानकर उसमें ममता आसक्ति दृढ़ कर लेते हैं, वस्तु को सत्य मानकर उस पर अधिकार रखते हुए हम लोभी बने रहते हैं, इसी प्रकार किसी पदाधिकार के साथ अपने को श्रेष्ठ मानकर अभिमानी बने रहते हैं, इसी प्रकार किसी पदाधिकार के साथ अपने को श्रेष्ठ मानकर अभिमानी बने रहते हैं तब तक हम अपने शत्रु हैं स्वयं ही अपने को बन्धन में डालकर सुखोपभोग के लालच वश दुखी होने की तैयारी कर रहे हैं।

अभी तक अज्ञान में जो कुछ भी अथवा जिसे भी अपना मान कर ग्रहण कर लिया है उसे ध्यान से देखो तब बुद्धि द्वारा ज्ञात होगा कि जो कुछ मिला है उस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है तथा नेत्रों द्वारा जो कुछ भी दीखता है वह क्षण क्षण बदल रहा है।

सभी आकृतियां अर्थात् रूप नश्वर है। आकृति के पीछे प्रकृति परिवर्तनशील है, उस परिवर्तन के पीछे जो कभी बदलता ही नहीं जिसमें समस्त नाम रूप प्रगट होते हैं और लीन होते रहते हैं वही सत्य है इसी सत्य में निर्भर रहना है अभय हो जाना है।

यह पुस्तक कदाचित यथार्थदर्शी तत्वदर्शी कुतूहलवश पढ़ने लगे उसे नमस्कार करते हुए उससे कुछ भी निवेदन नहीं करना है लेकिन इस पुस्तक को कोई जिज्ञासु साधक पढ़ता हो तब उससे यह पथिक आग्रह करता है कि तुम

अपना निरीक्षण करो और जब आगे मानते ही न रहो अपितु बुद्धि दृष्टि से जानो कि आंखों के द्वारा पशु पक्षी आदि सभी जन्तु देखते हैं वह दर्शन नहीं है। दर्शन तो उसे माना जाता है जिसके पीछे श्रद्धापूर्वक पूज्य भाव होता है।

मन में पूज्यभाव रखते हुए किसी की आकृति देखना भी सत्य का यथार्थ दर्शन नहीं है क्योंकि आकृति बनती है या बनाई जाती है वह किसी क्षण बिगड़ जाती है नष्ट हो जाती है इसीलिये किसी रूप में मन का अटक जाना मूढ़ता है यह मूढ़ता सत्यदर्शन में बाधक है––इसे स्वयं समझो और अपने संगियों को बालकों को समझाओ।

कोई रूप आंखों के द्वारा देखा जाता है, मन के द्वारा रूप को पकड़ लिया जाता है, बुद्धि से उस रूप के परिवर्तन को उसी अनित्यता को जाना जाता है और ज्ञान के सहारे प्रज्ञा द्वारा प्रत्येक रूप के पीछे नित्य विद्यमान अस्तित्व को, उसके सत्य को अनुभव किया जाता है––यही यथार्थ दर्शन है।

जो करुणा मय प्रभु की कृपा पात्र हैं वही इस निर्णय अथवा सन्देश गुरु निर्देश के अनुसार अपने भीतर दर्शन की दृष्टि खोल सकते हैं।

सन्त इस अन्तर दृष्टि की महान महिमा बताते हैं।

उबरहि विमल विलोचन हिय के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।। (रामायण)

जब हृदय के नेत्र खुलने पर दुःख देने वाले दोषों का ज्ञान होता है, दोषों को जान लेने पर जब दोष नहीं रह जाते तब अज्ञान अन्धकार में बढ़ने वाले दोष और उनसे उत्पन्न दुख मिट जाते हैं। यही स्वयं में दोषों दर्शन का अद्भुत फल है।

बाहरी आंखों से वस्तु के रूप को देखा जाता है। देखना मात्र दर्शन नहीं है। दर्शन की दृष्टि भीतर खुलती है। इसीलिये भगवान का निर्णय है कि जो मेरा प्रीति पूर्वक भजन करते हैं उन्हें बुद्धि योग देता हूं, जिससे कि यथार्थ वस्तु के सत्य के तत्व का दर्शन होता है। (गीता 10/10)

भगवान अपने दर्शन चाहने वाले भक्तों पर अनुग्रह करके अन्तःकरण में ज्ञान रूपी प्रकाश के द्वारा अज्ञान अन्धकार को दूर करते हैं। (गीता 10/11)

भगवान का निर्णय है कि तुम बिखरी हुई वृत्तियों द्वारा शक्ति को संयमित करो। शान्त मौन होकर जो कुछ सामने हो रहा है उसे देखते रहना ही संयम की साधना है। संयम द्वारा साधी हुई शक्ति के सुयोग से चेतना को गहराई में उतरना होता है तभी उसका अनुभव होता है,——जो सत् परमात्मा है सभी कुछ का परमाश्रय है।

असंयम में भोग ही भोग है संयम से ही योग सिद्ध होता है। भोग में विषय सुखों का ग्रहण होता है, योग में ग्रहण करने वाली शक्ति के पीछे, शक्तिमान का दर्शन होता है।

हमें यह भी समझाया गया है कि जब तक आंखों से किसी लौकिक अलौकिक रूपों को देखकर सुन्दर मूर्तियों को देखकर प्राकृतिक चमत्कारों को देखकर प्रभावित होते रहोगे तब तक सत्य दर्शन से विमुख ही रहोगे। अवश्य ही यह सब सत्य दर्शन की दिशा में सहायक है।

तुम शान्ति के लिये, आनन्द प्राप्ति के लिये, मुक्ति भक्ति के लिये जहां जाना चाहते हो, किसी के दर्शन पाना चाहते हो वहां तुमसे पहिले भी सहस्त्रों

लोग जा चुके हैं, जाकर दर्शन कर चुके हैं परन्तु शान्ति आनन्द पाकर नहीं लौटे थक कर ही लौटे हैं।

भाव देह द्वारा परमात्मा का दर्शन भी सबके लिये सुगम नहीं है। किसी पवित्र अन्तःकरण सम्पन्न प्रेमी को ही भावमय देह के समुचित विकास होने पर साकार दर्शन हो पाता है। प्रभु के साकार दर्शन के प्रभाव से सत्स्वरूप की प्राप्ति होती है साथ ही दुःखों की निवृत्ति, परम तृप्ति, बन्धनों से मुक्ति होती है। इसीलिए दर्शन का फल अनुपम बताया है जिन स्वरूप को पा जाना प्रभु दर्शन का फल है।

वास्तव में दर्शनीय वही है जो दया सिन्धु है, जहां दान ही दान है, जो दोष नाशक है, दुखहारी है। जो सौन्दर्य निधान है, माधुर्य की अद्वितीय खान है, जिसका ऐश्वर्य सर्वव्यापी है, जो सर्वोपरि महान है।

दर्शनीय वही है जो सर्वमय है, सर्वत्र सर्वदा है, सर्व प्रकाशक है, सर्वत्र आकर्षक है।

इस परम दर्शनीय का दर्शन ध्यान में ही होता है। अज्ञान में रूप का ग्रहण भले ही होता रहे परन्तु दर्शन नहीं होता। दर्शन के लिए श्रद्धा प्रेम अनिवार्य है। प्रायः हम लाखों लोग नेत्रों से रूप के ग्रहण को ही दर्शन मान लेते हैं। लेकिन दर्शन तो उसका होता है जो सर्व रूपों का प्रकाशक है, अज्ञान तिमिर का नाशक है।

अज्ञान में हम अनेकों साधक जिस दर्शन को पूर्ण मान लेते हैं ज्ञान में वही दर्शन अपूर्ण दीखता है अपूर्ण दर्शन की वेदना पूर्ण दर्शन के लिये तत्पर बनाती है।

श्रद्धा के जाग्रत होने पर दर्शन का आरम्भ माता पिता से होता है और दर्शन की पूर्णता परमात्मा में होती है।

दर्शन का आरम्भ मूर्ति से होता है और दर्शन की पूर्णता अमूर्त अनन्त ब्रह्म में होती है।

दर्शन का आरम्भ नेत्रों से होता है और दर्शन की पूर्णता प्रज्ञा चक्षु के खुलने पर होती है।

दर्शन का आरम्भ श्रद्धा विश्वास से होता है और दर्शन को पूर्णता ज्ञान एवं प्रेम में होती है।

सागर के दर्शन का आरम्भ सागर की लहरों से होता है लेकिन दर्शन की पूर्णता लहरों के पीछे सागर में गोता लगाने से होती है। इसी प्रकार दर्शन का आरम्भ जगत के नाम रूप से होता है किन्तु दर्शन की पूर्णता नाम रूपातीत अनन्त अस्तित्व के बोध में होती है।

दर्शन का आरम्भ मार्ग में चलने से होता है और दर्शन की पूर्णता चलना बन्द कर देने पर, ठहर कर विश्राम पाने पर होती है।

———————

सकल भुवन के गान तुम्ही हो, सर्वाधार महान तुम्ही हो।।
तुम नास्तिक की प्रकृति शक्ति में, आस्तिक की श्रद्धेय अस्ति में।
ज्ञानी की तत्त्वानुरक्ति में आदि मध्य अवसान तुम्ही हो।।
सर्व रूप में सर्व नाम में सर्व काल में सर्व धाम में।
तुम्हीं गति में तुम विराम में शक्तिमान भगवान तुम्हीं हो।।
तुममें दनुज देवगण तुममें, तुम में पर्वत हैं तृण तुममें।

तुममें कल्प और क्षण तुममें, सबके परम स्थान तुम्हीं हो।।
मानव में सतकर्म तुम्हीं से कर्म विकर्म अकर्म तुम्हीं से।
मिले गुह्यतम मर्म तुम्हीं से सबको देते ज्ञान तुम्हीं हो।।
तुम अमान के मानी के भी, ज्ञानी के अज्ञानी के भी।
तुम दरिद्र के दानी के भी, आश्रय एक समान तुम्हीं हो।
तुममें जीवन मरण तुम्हीं में, सबका है निरतरण तुम्हीं में।
''पथिक पा रहा शरण तुम्हीं में, करते शान्ति प्रदान तुम्हीं हो।।

———

है दुखहारी शरण तुम्हारी तुमसे निज दुख रो न सके हम।।
नाथ तुम्हारे प्रेमामृत में अब तक हृदय भिगो न सके हम।।
तीरथ गये किया जप तप भी शास्त्र पढ़ ज्ञानी कहलाये।
किन्तु खेद सब कुछ के पीछे अहंकार खो न सके हम।।
व्यर्थ गया दीखता हमारा सद्विवेक बिन सकल परिश्रम।
यदि मुनियों की भांति जगत में जाग सके या सो न सके हम।।
जीवन कुछ करते ही बीता फिर भी हो न सका वह कुछ भी।
जिससे सब अभाव मिट जाते ऐसी शक्ति संजो न सके हम।।
देव तुम्हारे द्वारा ही हो सकता है यह निर्मल जीवन।
कृपा दृष्टि से धुल जायेगा जो मल अब तक धो न सके हम।।
हे सुखदाता दोष विनाशक पूरी हो यह भी अभिलाषा।
जीवन बीत रहा पर अब एक पथिक तुम्हीं मय हो न सके हम।।

पूर्ण तीर्थ आत्मा ही है

हमने सुन कर मान लिया था कि तीर्थों में स्नान से दान से मनुष्य जन्म जन्मान्तरों के पापों से तर जाता है। तीर्थों में स्नान करके देखा तो तन शीतल

अवश्य हो जाता है लेकिन मन में काम क्रोध लोभ ईर्ष्या द्वेषादि पापों का सन्ताप तो बना रही रहता है।

जितना कुछ दान दिया जाता है उतने का लोभ तो घट जाता है परन्तु फल का लोभ बढ़ जाता है और दान का अभिमान, अहंकार के साथ हो जाता है।

मानने के पश्चात् यह भी जानने में आया कि तीर्थ में रहने वाले अनेकों नर नारी पाप प्रवृत्ति एवं पाप कृत्यों से मुक्त नहीं हो सके हैं।

लाखों नर नारी पाप के भय से तथा पुण्य के लोभ से प्रेरित होकर माने हुए पर्वों में तथा विशेष तिथियों में तीर्थों की यात्रा करते हैं। इस प्रकार मानने वालों में विचार पूर्वक तीर्थ को जानने वाले कोई बिरले ही होते हैं।

स्कन्द पुराण में भारत के सभी तीर्थों की बहुत बड़ी महिमा वर्णित है, अनेकों जन्मों के समस्त पाप एक तीर्थ में कट जाते हैं। सभी तीर्थों की एक प्रकार की महान महिमा वर्णित है।

प्रायः देखने में आता है कि अनेकों लोभी मोही जनों को तीर्थों में पाप कर्म करने की अधिक सुविधा मिल जाती है।

तीर्थ यात्री को यात्रा के प्रथम तीर्थ करने की सम्यक विधि का विवेक प्राप्त करना चाहिये। महर्षि का निर्णय है :–

यस्य हस्तौ च पादौच मनश्चैव सुसंयतम्।
निर्विकाराः क्रिया सर्वाः स तीर्थ फलमश्नुते।।

अर्थ––जिसके हाथ पैर मन भली भांति संयम में हैं जिसकी सभी क्रिया निर्विकार तथा सदभाव सम्पन्न होती है तभी तीर्थ का पूरा फल प्राप्त होता है। (स्कन्द पुराण)

प्रायः हम लोग लाखों की संख्या में तीर्थ यात्रा करते हैं परन्तु उपरोक्त विधि नियम का ज्ञान ध्यान नहीं रखते, इसीलिये तीर्थ यात्रा से पुण्यों की वृद्धि नहीं होती, इसके विपरीत संचित पुण्य सुविधा जनित सुख के पीछे नष्ट हो जाते हैं।

हमें समझाया गया कि तुम तीर्थ यात्रा को पूर्ण करना चाहते हो तो सबसे अधिक निकट तीर्थ–स्वरूप गुरुजनों की सेवा से तीर्थ यात्रा आरम्भ करो साथ ही दोषों का त्याग करते हुए, प्रतिकूलताओं को सहते हुए तप को पूर्ण करो और आत्म ज्ञान को प्राप्त कर यात्रा का अन्त करते हुए अनन्त परमात्मा में पूर्णता का अनुभव करो।

लाखों मनुष्य हैं जो लोभ मोहवश घर में दुकान व्यापार में ही चक्कर लगाते हैं उनसे वे लोग अच्छे हैं जो तीरथों में स्नान करने जाते हैं। स्नान करने वालों में से वे लोग अच्छे हैं जो स्नान करने के पश्चात तीर्थ में कुछ दान करते हैं। दान करने वालों से वे अधिक अच्छे समझदार हैं जो तीर्थ के मन्दिरों में दर्शन करते हैं वहां भी कुछ चढ़ाते हैं। उनसे भी वे अधिक विचारवान हैं जो मन्दिरों में होने वाली भगवान की भक्ति वैराग्य से सम्बन्धित कथायें सुनते हैं। उन श्रोताओं से वे अधिक आगे हैं जो तीर्थों में रहने वाले विरक्त सन्त महात्माओं का पता लगा कर उनके दर्शन करते हुए उनसे सत् चर्चा सुनते हैं। ऐसे सन्त प्रेमी श्रोताओं से वे सज्जन बहुत आगे हैं जो किसी सन्त महात्मा में प्रगाढ़ श्रद्धा

रखते हुए अपने अज्ञान को समझते हुए ज्ञान रूपी प्रकाश द्वारा साधना में संलग्न होते हैं। ऐसी साधना में तत्पर साधकों में वे ही सदगति शील हैं जो सेवा व्रती होकर व्यवहार में दोषों का त्याग करने में सफलता प्राप्त करते हैं। दोषों का त्याग करते हुए वे बहुत ही पुण्यवान समर्थ साधक हैं जो त्याग का अभिमान भूलकर अपने दृष्टा साक्षी रूप में देखते हुए निरन्तर ध्यान में आत्मदर्शी, सत्यदर्शी होकर परमगति परम शान्ति को उपलब्ध होते हैं। अथवा जो परमात्मा के अनन्य भक्त होते हैं।

सन्त का निर्णय है :–

'विमल ज्ञान जल जब जो नहाई। तब रह राम भगति उर छायी।।
रामभगति जल बिनु रघुराई। अभ्यन्तर मल कबहु कि जाई।।'
'तुलसीदास व्रत ज्ञान जोग जप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
राम चरन अनुराग नीर बिनु मान अति नास न पावै।।'

भगवान का निर्णय है:–– यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञान रूपी नौका द्वारा सम्पूर्ण पापों से अच्छी तरह तर जायगा। (गीता 4/36)

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है उस ज्ञान को अधिक समय के पश्चात् अपने आप समत्व बुद्धि योग द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर आत्मा में अनुभव करता है। (गीता 4/38)

आत्मा परमात्मा का ज्ञान वही प्राप्त करता है जो इन्द्रियों को वश में रखता हो वह पूर्ण तत्पर हो और श्रद्धावान हो। श्रद्धा रहित को ज्ञान योग की प्राप्ति नहीं होती।

श्रद्धा सात्विक और अटूट होनी चाहिए। साथ ही श्रद्धा उसी सन्त में होनी उत्तम है जो इस लोक परलोक की समस्त भोग वासनाओं का पूर्ण त्याग किये हुये हों, जिनका चित्त शान्त हों जो ब्रह्मनिष्ठ हों जो स्वभाव से ही लोगों को पवित्र करते रहते हों। ऐसे सन्त के अंग संग से गंगा जी में छूटे हुए पापियों के पाप नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि उनके हृदय में समस्त पापों को समूल नष्ट करने वाले श्री हरि नित्य निवास करते हैं। (श्रीमद भा0 165/166)

एक भक्त से मैंने पूछा कि तीर्थ स्नान से पापों के नष्ट होने की बात किस प्रकार सत्य समझी जा सकती है?

भक्त ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया, उसने कहा कि यदि स्नान करते हुए कोई संकल्प कर ले कि आज तीर्थ स्नान के पश्चात् मैं पाप न करूंगा तब अवश्य ही उसके पहले किये हुए पापों का क्षय अदृश्य विधान से हो जाता है और कदाचित पाप कर्मों का फलोदय होता है तब तीर्थ में रहने वाले सन्त महात्माओं के सतसंग से वह ज्ञान सुलभ हो जाता है, जिसके प्रभाव से पाप का पालन दुख रूप में नहीं भोगना पड़ता।

तीर्थ में पाप नाश करने का परिचय यही है—तीर्थ यात्री की, सन्त—संगत में श्रद्धा हो जाती है, वह श्रद्धा पापों की प्रबलता में नहीं जाग्रत होती।

सन्त का निर्णय है कि तीर्थ स्नान से पाप धुलते हैं। महात्माओं के दर्शन से पाप टरते हैं और महात्मा सन्त के दर्शन से जब स्वयं अपना दर्शन होता है तब पाप दोष मिटते हैं।

धुले हुए पाप फिर जम जाते हैं। टरे हुए पाप पुनः पीछे से आगे आ जाते हैं। कटे हुए पाप कभी जुड़ जाते हैं लेकिन जब पाप मिट जाते हैं तब निर्मलता

प्राप्त होती है। तीर्थ में स्नान दान व्रतादि करते हुए यदि विरक्त तत्ववेत्ता, सर्वहित में तत्पर की संगीत से सद्ज्ञान एवं कर्तव्य का विवेक नहीं होता तब तीर्थ यात्रा अपूर्ण ही रहती है।

सन्त की संगति से यह ज्ञान हो सका कि तन का तीर्थ इन्द्रियों का तीर्थ, मन का तीर्थ तथा बुद्धि का तीर्थ एवं अहंकार का तीर्थ और जीवात्मा का तीर्थ भिन्न–भिन्न है।

तीर्थ में जल स्नान से तन पवित्र होता है।

तीर्थ में दान से हाथ पवित्र होते हैं।

परिक्रमा से पैर पवित्र होते हैं।

तीर्थ में देव दर्शन से सन्त दर्शन से नेत्र पवित्र होते हैं।

सत कथा, हरि कथा–श्रवण से कान पवित्र होते हैं।

हरि गुण गान से रसना पवित्र होती है।

प्रभु की कृपा दया के प्रति सरल विश्वास से मन पवित्र होता है।

आत्मा तत्व विचार से बुद्धि पवित्र होती है।

भगवान के प्रति समर्पण से अहंकार पवित्र होता है।

परमात्मा के योगानुभव से जीवात्मा परम पावन हो जाता है।

सर्वांगों को पवित्र बनाने के लिए सर्व तीर्थों में सर्वांगीण स्नान अत्यावश्यक है। आंशिक स्नान से कोई अंश पवित्र होता है कोई अपवित्र ही बना रहता है।

पवित्र पुरुष के सभी कर्म सेवा के लिये ही होते हैं। उसका उठना, चलना, बोलना, लेना, देना, सोना जागना आदि दैनिक क्रियायें भोग के लिये नहीं प्रत्युत प्रभु की योगानुभूति के लिये होती हैं।

पवित्र साधक, मन से केवल प्रभु को ही अपना मानता है और बुद्धि से केवल आत्मा को ही सत्य जानता है।

शास्त्रों में स्थावर तीर्थ से जंगम तीर्थ को श्रेष्ठ कहा है क्योंकि जंगम तीर्थ के सेवन से ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है।

फल के लोभ वश या पाप के भय से या मनोरंजन के लिये तीर्थों में आने वालों को अपनी भूल भ्रम का ज्ञान हो जाये तो सौभाग्य की बात है।

तीर्थ जाने वाले अपने घर से माता पिता को तीर्थ स्वरूप मानकर यदि सेवा नहीं करते तथा आये हुए अतिथि की जो सेवा नहीं करते एवं वेद वेत्ता और गुरु की सेवा में जो प्रमादी रहते हैं वह तीर्थ सेवन की पूर्णता से वंचित रह जाते हैं।

हमें समझाया गया है कि जो सज्जन अपने जीवन में आत्मा ज्ञान प्रेम सत्य, अहिंसा तप दया शील सन्तोष उदारता नम्रता सरलता आदि दैवी गुणों द्वारा असत्य हिंसा ईर्ष्या क्रोधादि आसुरी दोषों को जीत लेते हैं वह तीर्थ स्वरूप है।

जिस घर में पतिव्रता नारी है वह तीर्थ स्वरूप है, सन्तोषी ब्राह्मण विरक्त सन्यासी, निस्पृह, विद्वान तथा शरणागत की रक्षा करने वाला, अभय दानी वीर

क्षमा शील एवं तत्व वेत्ता तीर्थ स्वरूप है, इनका संग सुलभ होने पर वाह्य तीर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं रहती।

आचार नैर्मल्यमुयागतेत सत्य क्षमा निस्तुल शीतलेन।
ज्ञानाम्युना स्नाति हि नित्य मेयं किं तस्य भूयः सलिलेन तीर्थम्।।

अर्थ––जो सदाचार के पालन से निर्मल हो गया है तथा क्षमा सत्य द्वारा जिसमें अतुलनीय शीतलता आ गई है ऐसे ज्ञान रूपी जल में निरन्तर स्नान करने वाले पुरुष को पानी से भरे तीर्थों की क्या आवश्यकता है।

सन्त सदगुरु अद्‌भुत तीर्थ है सन्त सद्‌गुरु रूप तीर्थ में जो अपने अन्तःकरण को पवित्र कर लेता है उसे अन्य तीर्थ में जाने की अपेक्षा नहीं रहती।

श्रीमद्‌भागवत में जड़ भरत राजा रहूगण को समझाते हैं कि महापुरुषों की चरण धूलि अपने को नहलाये बिना अर्थात चरण धूलि का अभिषेक किये बिना केवल तप यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अतिथि सेवा दीन सेवा, आदि गृहस्थोचित्त धर्मानुष्ठा वेदाध्ययन अथवा अग्नि सूर्यादि की उपासना आदि किसी भी साधन से यह परमात्म ज्ञान प्राप्त नहीं होता। (भाग0 5/12–12)

यह श्रीमद्‌भागवत का ही निर्णय है कि विशुद्ध परमार्थ रूप अद्वितीय तथा भीतर बाहर के भेद से रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तर्वर्ती और सर्वथा निर्विकार है उसी का नाम सर्वात्मा भगवान है और उसी को पण्डित जन वासुदेव कहते हैं।

यही ज्ञान स्वरूप आत्मा पूर्ण तीर्थ है।

———

चाहों के त्याग की पूर्णता

चित में यदि चाह न रह जाये फिर कुछ दुख दाह न रह जाये।।

हम ऐसे हो जायें ज्ञानी फिर रहें न किंचित अभिमानी।
बन जायें सब कुछ के दानी भव सिन्धु अथाह न रह जाये।।

सब भांति सदा सन्तोष रहे मन बुद्धि सदा निर्दोष रहे।
सोहं सत्योंहं घोष रहे कुछ भी परवाह न रह जाये।।

जग के वैभव धन पाने का शासन अधिकार बढ़ाने का।
फिर किसी ओर भी जाने का कुछ भी उत्साह न रह जाये।।

अपने उर का छलमल धोकर सब भेद भावना को खोकर।
हम 'पथिक' रहें तुम मय होकर दुर्गति की राह न रह जाये।।

स्वयं में ही पूर्णता का द्वार

स्वयं से संसार की यात्रा का आरम्भ होता है और संसार से स्वयं में लौटने पर सत्य का द्वार मिल जाता है। सुख की पूर्णता के लिये संसार में यात्रा चलती है वही अपूर्णता की वेदना में ले जाती है। आनन्द की पूर्णता के लिये स्वयं में लौटना अनिवार्य होता है। स्वयं के आगे दृश्य संसार है स्वयं के पीछे अदृश्य परमात्मा है।

इस पथिक ने भी उनकी सुनी है जिनको संसार से स्वयं की ओर लौटकर सत्य में परम विश्राम पाते हुए जाना है।

संसार के दो भेद हैं। एक वह अनन्त संसार है जो परमेश्वर का है, परमेश्वर में है। उस संसार की हम लोग चर्चा सुनते हैं परन्तु हम लोगों पर उस संसार को क्षति पूर्ति का कोई प्रभाव नहीं है। हम लोग परमेश्वर के संसार से अनासक्त हैं।

दूसरा संसार हमारा अपना माना हुआ है वह हमारे मन मस्तिष्क में सीमित है; उसी अपने संसार का हमारे ऊपर प्रभाव है, उसी संसार से सम्बन्धित रहने के कारण हमारे समस्त सुख दुख हैं।

अज्ञान में हम लोग उस अपने संसार को सुखद मानकर उसी में अपने आपको समर्पित कर रक्खा है।

मन के द्वारा अपने संसार को निर्मित करते हुए उसी में सुख मानते हुए, कालान्तर में सुख के अन्त में दुख भोगते हुए, बुद्धि द्वारा ज्ञान में यह जाना कि यह संसार जैसा मानते हैं वैसा है ही नहीं।

इस संसार में जिस वस्तु को अथवा सम्बन्धित व्यक्ति को अपनी मानते हैं उसे न तो हमने बनाया है और न किसी पर अपना अधिकार ही है।

हमें यह भी समझाया गया है कि यह सुख भी हमने मान लिया है, दुःख भी हमने मान लिया है। माने हुए को जान लेने पर न कुछ सुखद है, न दुखद है।

ज्ञान में हम जान रहे हैं कि जिसके पाने के लिये हम दुखी होते हैं, जिस पर हम सुख निर्भर करते हैं और जिसे पाकर हम तत्काल सुखी हो जाते हैं, कुछ क्षण पश्चात् उस सुखद वस्तु के रहते हुए हम दूसरी वस्तु की प्राप्ति के लिये दुखी हो जाते हैं यद्यपि पहले की सुखद वस्तु रहती है, अपने सभी सुखद सम्बन्धी माता पिता पत्नी पुत्र पुत्री के रूप में रहते हैं पर जब हम दुखी होते हैं तब सबके रहते हुए भी इन्हें देखते हुए भी हमें याद ही नहीं आती कि निकट में और भी सुखद व्यक्ति वस्तु मौजूद है।

हमने देखा है कि जो व्यक्ति किसी को देखे बिना दुखी होता है वही व्यक्ति उसे कभी देखना नहीं चाहता। जो स्त्री वस्त्राभूषणों के लिये दुखी होती है वही वस्त्राभूषण शरीर में धारण किये हुए किसी अन्य चाह की अपूर्ति से दुखी होती है, उसे हजारों रूपये के मूल्यवान आभूषणों की उस समय याद भी नहीं आती।

जो व्यक्ति भवन के बिना दुखी होते हैं, वही भव्य भवन में रहते हुए दुखी होते हैं।

यह अपना सुखद दुखद संसार माना हुआ है, इसे जान लेने पर सत्य नहीं दीखता, अपना नहीं दीखता, इसीलिये इस संसार से स्वयं की ओर लौटना है।

स्वयं को भी हम लोग दूसरों से सुन सुनकर मान लिये हैं। हमारे आस पास के सम्बन्धी जैसे अपने को मानते आ रहे हैं वैसे ही हमें भी मनाते हैं वे स्वयं को जब जानते नहीं तब हमें भी नहीं समझा सकते।

भगवान के नाम में मानवता का निर्माण करते हुए भगवद् प्रदत्त स्वभाव का स्वतन्त्रता के तथा 'स्व' एवं 'पर' का दर्शन करो।

स्वभाव वही है जो किसी अन्य के प्रभाव से प्रभावित न हो। जब तक तुम पर निन्दा स्तुति संयोग वियोग लाभ हानि आदि द्वन्द्वों का प्रभाव पड़ता है तब तक तुम परतन्त्र हो, स्वतन्त्र नहीं हो।

स्व का ज्ञान एवं भान हुए बिना स्वभाव प्रगट नहीं होता।

स्व माने अपना है। अपना वही है जो कभी पराया नहीं होता, जो कभी भिन्न नहीं होता, जो अपने को कभी नहीं छोड़ता।

जो नित्य निरन्तर अपना है वह परमात्मा ही है। परमात्मामय भाव ही सद्भाव है वही स्वभाव है।

परमात्मा सत्य सनातन है 'स्व' भी सत्य सनातन है। पराश्रय एवं पराधीनता छोड़ने पर 'स्व' का बोध होता है। भोगी ही पराश्रित परतन्त्र होता है, योगी स्वतन्त्र होता जो 'स्व' को जानकर पराश्रय त्यागकर स्वहित साध लेता है वही परहित साध पाता है।

'स्व' को साथ लेने पर ही प्रेम से सेवा हो पाती है। साधना की परिपक्वता में ही सेवा की पूर्णता सम्भव है। आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है। इसे ही क्षण क्षण स्मरण करते रहो। आनन्द में ही जाग्रत रहना, स्वरूप में जाग्रत होना है जो स्वयं में निद्रित है वह दूसरों को नहीं जगा सकता। विवेकी ही जागता है।

प्रिय आत्मन्! वैसे तो बालक भी कुछ भूल जाने से दुखी होते हैं, भ्रमित हो जाने से अशान्त होते हैं पश्चाताप करते हैं और अज्ञान के कारण बन्धन से कसे रहते हैं लेकिन यथार्थ में आन्तरिक भूल को, भ्रान्ति को, अज्ञान को कोई निरभिमानी विद्वान ही समझ पाते हैं।

सन्त संगति से पता चला कि गहरी भूल तो यही है कि हम अपने स्वरूप को ही भूले रहते हैं।

आन्तरिक भ्रान्ति यही है कि अपनी देह को और जिन्हें अपना मानते हैं उनकी देह को स्मरण में लिये रहते हैं।

अज्ञान यही है कि जो विनाशी है उसी का आश्रय ले रहे हैं।

स्वरूप की विस्मृति रहने तक दुख से मुक्त हो नहीं सकते। 'देह ही मैं हूं'—'यह देहधारी मेरे हैं'—यह स्मृति रहने तक हम ह्रास के अथवा परिवर्तन की अशान्ति से बच ही नहीं सकते और विनाशी का आश्रय लेते रहने तक अज्ञान के बन्धन से छूट ही नहीं सकते।

एक सन्त ने बहुत अच्छी बात समझाई कि मनुष्य नर्क जाने के लिये जितना कठोर श्रम करता है उससे बहुत कम कष्ट झेल कर थोड़े ही श्रम से स्वर्ग जा सकता है। मनुष्य क्रोध में बहुत शक्ति खर्च करता है उससे बहुत कम श्रम संयम से क्षमा में शान्त रह सकता है।

जगत की सम्पत्ति के लिये मनुष्य अनेकों अपराध करने में बहुत साहस से तथा अत्यधिक शक्ति से काम लेता है उससे बहुत कम शक्ति एवं समय के सदुपयोग से दैवी सम्पदा का धनी हो सकता है।

मनुष्य दूसरों से लड़ने में बहुत ही उदारता पूर्वक समय को शक्ति को नष्ट करता है उससे बहुत कम शक्ति के उपयोग से अपने को सत्य की दिशा में बदल सकता है।

हमें सावधान किया गया है कि सत्य के लिये शान्ति के लिये आनन्द के लिये परमात्मा के लिये संसार की ओर से मुड़कर स्वयं में लौटने का दृढ़ संकल्प करो साथ ही साहस बटोर कर ध्यान को साधो।

ध्यान से ही अन्तर यात्रा पूर्ण होती है।

जब तक तुम स्वयं तक न पहुंच पाओगे तब तक बाहर ही भागते रहोगे। बाहर जो भी मिलेगा वह स्थिर न होगा। स्वयं में ही शान्ति का एवं आनन्द का द्वार खुलता है।

यह भी गुरु निर्णय है कि जब तक संसार से कुछ भी चाहोगे, कोई कामना अतृप्त बनाती रहेगी, किसी से भी कुछ पाने की आशा लगी रहेगी तो स्वयं की ओर लौटते समय वह रस्सी की भांति तुम्हें बार–बार खींचती रहेगी।

एक सन्त ने कहा है कि जब तुम संसार के पदार्थ चाहते हो तब तक तुम्ही अपने लिए दुख की सृष्टि बढ़ाने वाले अपने शत्रु हो और परमात्मा को चाहते हो तब तुम्ही अपने मित्र हो। सुख को चाहते हुए संसार की ओर बढ़ते रहना होगा और परमात्मा को चाहने पर स्वयं में लौटना होगा।

संसार की दिशा में चलते हुए पग–पग में परापेक्षा पराधीनता रहती है स्वयं की ओर लौटने में परापेक्षा, पराश्रय, पराधीनता से अपने को मुक्त करना होता है।

गीता में लिखा है, जब तुम अपने को देहादि पदार्थों में रखकर मै–मै कहते हो अथवा अपने में कुछ रखकर मेरा मेरी मानते हो तभी स्वयं से दूर चले

जाते हो, अशांति एवं विक्षेप से घिर जाते हो। वास्तव में तुम आत्मा हो तुम्हारी अपनी सत्ता महा समुद्र है स्वयं में ठहर कर अनुभव करो।

सन्त ने हमें यह भी बताया है कि शून्य होते ही स्वयं में प्रवेश होता है। चित्त शून्य हो और सजग हो तभी बोध का द्वार मिल जाता है। जब तुम कुछ नहीं करते हो तब उसका बोध होता है जिसके द्वारा ही सब कुछ करते हो। स्वयं में ठहर कर सत्य को पा लिया जाता है। यह गुरु निर्देश है कि चित्त अनेक हैं चेतना एक है वही तुम स्वयं हो जब चाहो तभी अनुभव करो।

अनुगीता में बताया गया है कि पुरुषोत्तम परमात्मा से प्रकृति हुई, प्रकृति से जीवात्मा हुआ, जीवात्मा से बुद्धि हुई, बुद्धि से अहंकार हुआ, अहंकार से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से ही, यह नेत्रों से दीखने वाला दृष्यमान जगत हुआ। अब किसी को जगत से जगदाधार की ओर लौटने की अभीप्सा हो तो दृश्य जगत से लौटकर स्वयं तक पहुंचना होगा। स्वयं में ही सत्य परमात्मा पुरुषोत्तम का योगानुभव होता है।

हमें यह भी समझाया गया है कि अज्ञान वश जब तक तुम कुछ न कुछ मांगते रहोगे तब तक सन्तुष्ट तृप्त न हो सकोगे क्योंकि भिखारी कभी समृद्ध तृप्त नहीं हो पाता। देने वाला अवश्य ही महान धनी सिद्ध हो जाता है जबकि दे करके बदले में कुछ नहीं चाहता।

प्रेम से पूर्ण हृदय में ही पूर्ण दान की तथा पूर्णतया दोषों के त्याग की शक्ति रहा करती है।

ध्यान से सजग होकर जब अन्नमय कोष को प्राणमय कोष को, मनोमय कोष को, विज्ञानमय कोष को देखो तभी सब कुछ के दाता के प्रति तुम्हारा हृदय

प्रेम से कृतज्ञता से आनन्द से भरता जायेगा और अहंकार पिघलता गलता जायेगा।

यह भी गुरु आदेश है कि तुमने अपने विषय में बाल्यकाल से जैसा सुना है उसे मानते हुए अपना परिचय न देते रहो प्रत्युत अपने को जानो, तभी पूर्ण जीवन का अनुभव होगा। पूर्णता की अनुभूति में अभाव नहीं रहता वहीं परमात्मा है।

स्वयं में परमात्मा को न देख पाने तक ही अभाव की वेदना अशान्त बनाती है। स्वयं के प्रति जागना है और देखना है।

संसार से जो हम परस्पर प्रीति करते हैं वह केवल माने हुए सुख के लिये ही करते है। जिसमें सुख नहीं दीखता उससे हम विमुख हो जाते हैं।

सन्त ने हमें समझाया कि प्रत्येक सुख के अन्त में दुख भोगना ही होगा क्योंकि संयोग का अन्त वियोग है ही। लाभ का अन्त हानि है ही। जवानी के अन्त में बुढ़ापा है ही, सुन्दरता का अन्त शरीर की कुरूपता है ही तब कोई सुख संसार में ऐसा है ही नहीं जो सदा बना रहे इसलिये यदि शान्ति चाहते हो, आनन्द चाहते हो तो अपने आप तक स्वयं तक लौट आओ। स्वयं में आते ही शान्ति को खोजना न पड़ेगा, आनन्द के लिये फिर संसार में लौटना न होगा।

स्वयं में आते ही सत्य की प्राप्ति के लिये परमात्मा के योग के लिये कहीं जाना न होगा, केवल ठहरना होगा। पूर्ण विश्राम ही दर्शन का द्वार खोल देगा।

अपने प्रेमियों! तुम भी संसार से स्वयं की ओर लौटो धन मान भोग पद प्रतिष्ठा चाहते हो तो और आगे बढ़ के देख लो या फिर दृष्टि खुली हो अपने से बहुत आगे बढ़े हुए लोगों को देख लो।

सन्त का निर्देश है कि जब अपने अन्तस में आनन्द का आस्वाद आने लगता है तब प्रेम, सुगन्ध की भाँति फैलता रहता है भीतर शान्ति सघन होती जाती है और विरक्ति बढ़ती जाती है।

हमें समझाया गया है कि अपने साथ जड़ देहादिक वस्तुओं को देखो और जड़ को गति देने वाले चेतन को जानो। यदि तुम अपने भीतर चेतन तत्व को चेतन आत्मा को नहीं जानोगे तो दूसरे शरीरों में आत्मा को नहीं पहचान सकोगे। इसीलिये जगत के नाम रूपों में ही न उलझे रहकर स्वयं की ओर लौटो। स्वयं को, अपने को मानते हो अब जानो, अपने से ही पूछो कि क्या मैं यही हूं? जो सुनकर अपने को मान रहा हूं।

सन्त से हमने सुना है कि 'मै' युक्त आत्मा जीव है और 'मै' से मुक्त आत्मा परमात्मा है।

सन्त ने हमें समझाया है कि तुम आत्मा परमात्मा को जानने के प्रथम अपने को जानो, 'मै' को जानो अर्थात् स्वयं को जानो। स्वयं को तभी जान सकोगे जब चेतना के पास जानने को कुछ नहीं रहेगा।

जब मन मनन से मुक्त होगा तब स्वयं में आ जाओगे। जब चित्त वाह्य चिन्तन से मुक्त होगा तब स्वयं में आ जाओगे। जब बुद्धि विचार रहित होगी तब स्वयं में आ जाओगे।

एक सन्त ने कहा था जब संसार का सब कुछ खो दोगे तभी स्वयं तक लौटकर स्वयं में ही परमात्मा को पा लोगे।

ध्यान से देखते–देखते ऐसा स्थान मिलता है जहां सब कुछ खो जाता है केवल परमात्मा ही रह जाता है। उसी स्थान को भीतर खोज लेना है। गुरु निर्देश है कि यात्रा करते रहो।

जितनी देर तुम ध्यान में शान्त मौन दृष्टा होकर देखोगे उतनी देर यात्रा हो रही है, मार्ग तय हो रहा है भीतर बढ़ते ही जा रहे हैं बड़ी लम्बी मंजिल है––ऐसा समझते रहना।

एक बहुत ही अद्भुत संकेत समझ लेना है। बाहर की यात्रा में सामने चलना होता है लेकिन अन्तर की यात्रा में भीतर लौटना होता है, वह लौटना इसलिये अति कठिन है कि लौटने के लिये अर्थात अपने आप में पहुंचने के लिये उलटे पैरों चलने के समान है, मुख तो है जिधर से अपने आपकी ओर लौट रहे हैं और यात्रा उधर करनी पड़ती जो हमारे पीछे है उधर मुख नहीं किया जाता। देखा जाता है सामने और जाता है उधर जो सामने नहीं है पीछे है इसलिये एक एक पग उलटा लौटने चलने के समान कठिन होता है, फिर भी उलटा लौटते लौटते हम वहां अपने को पाते हैं जहां सदा से हमारा केन्द्र था––फिर चलने को रह ही नहीं जाता। हम स्वयं के बिन्दु में पहुंचते हैं जहां से सिन्धु का विस्तार होता है।

––––

विनाशी पर विश्वास न करो

उलझ मत दिल बहारों बहारों का भरोसा क्या?
सहारे टूट जाते हैं सहारों का भरोसा क्या।।

तमन्नायें जो तेरी हैं फुवारें हैं ये सावन की।
फुवारें सूख जाती हैं फुवारों का भरोसा क्या।।

दिलासे जो जहां के हैं सभी रंगी बहारें हैं।
बहारें रूठ जाती हैं बहारों का भरोसा क्या।।

तू इन फूले गुबारों पर अरे दिल क्यों फिदा होता।
गुबारे फूट जाते हैं गुबारों का भरोसा क्या।।

तू सम्बल नाम का लेकर किनारों से किनारा कर।
किनारे टूट जाते हैं किनारों का भरोसा क्या।।

अगर विश्वास करना है तो कर दुनिया के मालिक पर।
धनी अभिमानी लोभी दुनियादारों का भरोसा क्या।।

परमप्रभु की शरण लेकर विकारों से सजग रहना।
कहां कब मन बिगड़ जाय विकारों का भरोसा क्या।।

तू अपनी अक्लमन्दी पर विचारों पर न इतराना।
जो लहरों की तरह चंचल, विचारों का भरोसा क्या।।

———

प्रभु मेरा मोह मिटाओ, मुझमें निज ज्ञान जगाओ।।

किस साधन से तुमको पाऊँ क्या लेकर मैं सम्मुख आऊँ।
कैसे तुमको नाथ रिझाऊँ, किन भावों में विनय सुनाऊँ।।
देव यही बतलाओ।

तुमही हो जीवन के जीवन, प्राणों के अरु मन के भी मन।
निर्बल के बल निर्धन के धन, तुममें ही है सब कुछ अरपन।
बिगड़ी दशा बनाओ।

वही दृष्टि दो हे करुणामय, अहंभाव तुममें ही हो लय।
मैं तुममें हो जाऊँ निर्भय, इतनी स्वामी सुन लो अनुनय।
यह आवरण हटाओ।

यद्यपि दूर नहीं तुम स्वामी, घट–घट व्यापक अन्तर्यामी।
आज सच्चिदानन्द गुणधामी, दिव्य प्रेममय देव नमामी।
पथिक हृदय घन आओ, मुझमें निज ज्ञान जगाओ।।

———

सभी कुछ प्रभु देते जाते आप हैं, अकथ है जो कुछ दिखाते आप हैं।।

देखता हूं किस तरह कितनी कठिन मुश्किलों से भी बचाते आप हैं।

जहां पर भी हमें गिरते देखते, वहीं से ऊँचे उठाते आप हैं।

मोह ममता में फँसे इस जीव को, जिस तरह भी हो छुड़ाते आप हैं।

डूबते देखा जहां दुख सिन्धु में, किनारे आकर लगाते आप हैं।

जहां मेरे लिये जो उचित है, युक्तियां सारी दिखाते आप हैं।

जानता हूं मैं पथिक कितना पतित, उसे भी पावन बनाते आप हैं।

———

प्रभे भूले हुए को राह लगाते जाना।
मोह माया से मुझे नाथ छुड़ाते जाना।।
खोजते खोजते मैं खो गया हूं जाने कहां।
दयानिधि मुझे अब होश में लाते जाना।।
अपने छिपने के लिये परदा बनाया संसार।
कैसे पाऊँ तुम्हें यह युक्ति बताते जाना।।
ध्यान वह दो कि न भूलें तुम्हें निशि दिन भगवन।
मगन रहूं वह लगन अपनी सिखाते जाना।।
यहां वहां कहीं कुछ है तो यह तुम्हारा खेल।
जहां देखूं वहीं अब दृष्टि में आते जाना।।
चाहे कैसा भी हूं पर अब तो आप ही का हूं।
पतित हूं शरण में अब नाथ निभाते जाना।।

———

हे करुणामय भगवान बसो चंचल मन में।।
हे विश्वम्भर! परमेश एक परमाश्रय।
तुम सबके जीवन प्रान बसो चंचल मन में।।
हे सुन्दर! हे सर्वस्व सुखों के स्वामी।

हे अनुपम दया निधान बसो चंचल मन में।।
हे दाता! हम तो आयें द्वार तुम्हारे।
दो भक्ति प्रेम का दान बसो चंचल मन में।।
हे प्रेमनिधे! परमात्मन् अन्तर्यामी।
कर दो मेरा कल्याण चंचल मन में।।
हे प्रियतम प्रभु मैं पथिक तुम्हारा ही हूं।
दे दो निज शरण स्थान बसो चंचल मन में।।

ओइम

हम बड़े भाग्यवान हैं भगवान की सुनते हैं।
होता यथार्थ दर्शन उस ध्यान की सुनते हैं।।
सर्वत्र असत् चर्चा सुनने को मिला करती।
प्रभु की कृपा से आज आत्मज्ञान की सुनते हैं।। हम बडे0।।

हम रूप के मनन को ही ध्यान जानते थे।
ग्रन्थों के अध्ययन को ही ज्ञान मानते थे।
पर यह है जानकारी विद्वान की सुनते हैं।। हम बडे0।।

आसवत हो चुके हैं जन धन में सुखी होकर।
जब मुक्ति चाहते हैं बन्धन से दुखी होकर।
तब विरति के लिये स्वधर्म दान की सुनते हैं।। हम बडे0।।

धन स्वर्ण न छूने को हम त्याग समझते थे।
ममता भरे क्रन्दन को अनुराग समझते थे।
अब भ्रम निवृति के लिये महान की सुनते हैं।। हम बडे0।।

जब बुद्धि विमोहित है मोहान्ध मन के पीछे।
मन भाग रहा इन्द्रिय सुख और तन के पीछे।
हम पथिक आज अपने उत्थान की सुनते हैं।। हम बडे0।।

————

श्री स्वामी पथिक जी महाराज द्वारा लिखित पुस्तकें

	नाम पुस्तक	मूल्य		नाम पुस्तक	मूल्य
1.	गुरु वाक्य		23.	पथिक प्रश्नोत्तर (भाग–1)	
2.	पथिकोद्गार सन्त वचन		24.	पथिक प्रश्नोत्तर (भाग–2)	
3.	औषधि संग्रह		25.	आत्म निरीक्षण (प्र0)	
4.	निर्णय भाग 1		26.	आत्म निरीक्षण (द्वि0)	
5.	निर्णय भाग 2		27.	नारी और दिव्य जीवन	
6.	पथिक प्रबोध		28.	सावधान (द्वि0	
7.	पूर्णता की ओर		29.	साधन मीमांसा	
8.	ठहरो और देखो		30.	साधक और सिद्धि	
9.	परमार्थ प्रेम–परिपुष्टि		31.	प्रवचन सार	
10.	सत्यान्वेषण		32.	शुभ और सुन्दर	
11.	सन्त दर्शन		33.	मिट्टी की महिमा	
12.	सद्गति प्रेरणा		34.	आदर्श जीवन	
13.	विचार संचय		35.	कल्याण–निधि	
14.	परिणाम दर्शन (प्र0)		36.	परमार्थ के पथ में	
15.	परिणाम दर्शन (द्वि0)		37.	आप क्या चाहते हैं	
16.	विविधयोग (प्र0)		38.	यह भी समझो	
17.	विविध योग (द्वि0)		39.	पंचसकार योग	
18.	कर्त्तव्य दर्शन (प्र0)		40.	वियोगिनी	
19.	कर्त्तव्य दर्शन (द्वि0)		41.	वैद्य की दवा और दुआ	
20.	समझने की बातें (प्र0)		42.	साधकों से	
21.	समझने की बातें (द्वि0)		43.	सावधान (प्रथम)	
22.	प्रकाश में		44.	परमानन्द की ओर	

पुस्तकें प्राप्त होने के पतेः–

1– श्री स्वामी पथिक सेवा समिति, आलोक सदन, नवलकिशोर रोड, हजरतगंज, लखनऊ।
2– श्री जगत बिहारी लाल गुप्ता, कमला मार्केट अमीनाबाद, लखनऊ
3– श्री जैसा राम आर्य, 55, लाजपतकुंज, आगरा
4– डॉ0 जे0एल0 सूरी, बर्लिंग्टन होटल चौराहा, हुसैनगंज, लखनऊ

lk/kq os"k esa ifFkd dk laf{klr ifjp;

आपके शरीर का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में सम्वत 1935 में हुआ था। आपके पिता जिला फतेपुर ग्राम–बकेवर के रहने वाले थे। कालान्तर में वह जाकर ग्राम–साढ़ जिला कानपुर में रहने लगे। आपकी बाल्यावस्था ननिहाल में व्यतीत हुई। वहीं पर कुछ शिक्षा प्राप्त की। आपको बचपन से देवी–देवताओं पर पूर्णतः विश्वास था। आपके माता–पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आप ग्राम के बाहर भूँधरा खोदकर तप करने लगे। इस अवस्था में भी अनेक लोग आपके दर्शन करने आया करते थे।

बाल्याकाल से ही किसी से उपदेश सुने बिना भगवान के नाम जप स्मरण में विश्वास था। आरम्भ से ही एक परमहंस अवधूत सन्त में श्रद्धा हो गयी जो नग्न ही घूमते थे। कोई वस्त्र न रखते थे। स्नान के पश्चात खाक लगा के जल सुखाते थे। उसे विभूति कहते थे।

गुरु महाराज ने आपका नाम ''पलकनिधि'' रखा था। वैसे आस–पास के गाँव के लोग आपको ''ब्रह्मचारी'' कहा करते थे। सीतापुर में आपने बहुत समय तक तप किया। नदी किनारे पर्ण कुटी बनाकर आपने तप किया। उस समय आप टाट का ही अचला, लंगोटी, बिछाने ओढ़ने के लिये भी आप टाट का ही प्रयोग करते थे। चना, गेहूँ को फुलाकर खाते थे।

पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्रेरित होकर सब कुछ छोड़कर साधु वेश में विचरण करते हुए अनेकों कविताएं लिखीं। एकान्त सेवी होने के कारण पद्य के साथ–साथ गद्य लिखना आरम्भ हुआ। लगभग पैंसठ पुस्तकें छपी। मान प्रतिष्ठा पूजा भेंट से सदा विरक्त रहकर विचरण करते हुए आध्यात्मिक विचारों का

समाजव्यापी प्रचार बढ़ता गया, विचारों की प्रधानता से विचारक समुदाय की वृद्धि होती गयी। 'साधु वेष में एक पथिक' नाम से कल्याण में लेख छपते रहे। आपने अठसराय में नागा निरंकारी विद्यालय बनवाया और जिला कानपुर ग्राम–साढ़ में भी आपने विद्यालय बनवाया है।

ज्येष्ठ–शुक्ल पंचमी तदनुसार 10 जून 1997 को परमार्थ आश्रम हरिद्वार में आपका शरीर पूर्ण हुआ और वहीं पर भव्य सन्त पथिक समाधि मन्दिर बना है।